http://www.jainkosh.org

सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्ष – शास्त्र

भाग 21

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

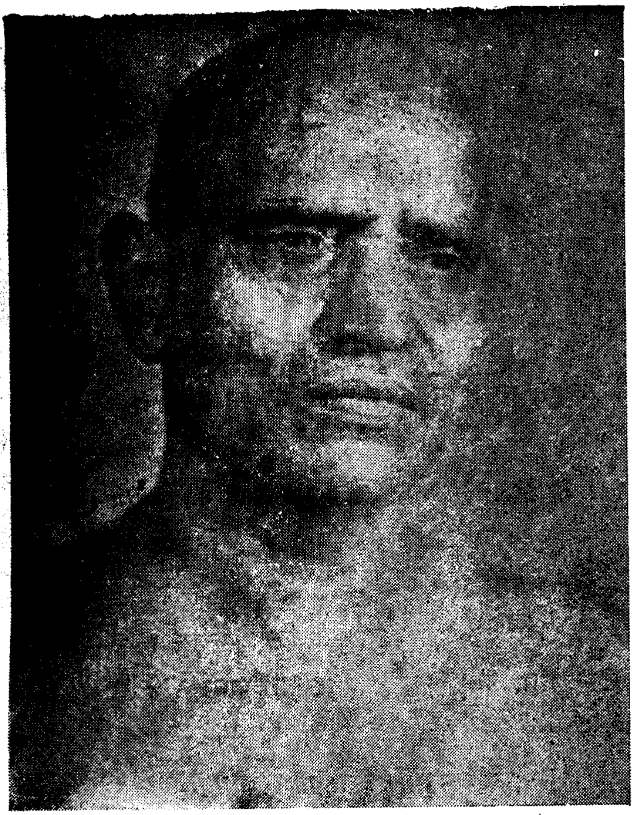

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी ।
जय जय अविकारी,
स्वामी जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी,
शाश्वत स्वविहारी ॐ···॥टेक॥
काम क्रोध मद लोभ न माया,
समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन,
सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ····
हे स्वभावमय जिन तुमि चीना,
भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत,
सहत बिपति भारी ॥२॥ ॐ····
परसम्बंध बंध दुख कारण,
करत अहित भारी ।
परमब्रह्म का दर्शन,
चहुं गति दुखहारी ॥३॥ ॐ···
ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥ ४ ॥ ॐ····
बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ···

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।। टेक ।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।। १ ।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।। २ ।।

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।। ३ ।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।। ४ ।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक-बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मोक्षशास्त्र प्रवचन २१ वां भाग

(२३१) **सूत्रमें कर्मणः योग्यान् पदोंका समास न कर अलग कहनेका सैद्धान्तिक रहस्य**—इस सूत्रमें तीसरा और चौथा पद है कर्मणः योग्यान् अर्थात् कर्मके योग्य। जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप हो सकती हैं उनको बांधता है यह जीव—यह अर्थ इसमें विवक्षित है। यहाँ कर्मण: योग्यान् ऐसे दो पद अलग-अलग रखे गए हैं, उनका समास नहीं किया गया। इनका समास भी हो सकता था—कर्मयोग्यान् और अर्थ भी वही निकलता है। कर्मके योग्य और समास करनेसे सूत्रमें लाघव भी होता फिर भी समास नहीं किया गया और पृथक् विभक्तिका उच्चारण किया गया। इसका कारण यह है कि कर्मणः शब्दसे अन्य वाक्यका भी ज्ञान होता है। कैसे ? कर्मणः शब्दसे पहलेके पदोंका सम्बन्ध जोड़ा जाय तो एक वाक्य निकलता है, और कर्मके उत्तरमें कहे गए शब्दोंसे सम्बन्ध जोड़ा जाय तो दूसरा वाक्य निकलता है। प्रथम वाक्य क्या है कि कर्मके कारण जीव सकषाय होता है। यहाँ कर्मणः शब्द पंचमी विभक्तिमें माना जायगा जिससे हेतु अर्थ साबित होता है। कर्मके कारणसे जीव सकषाय होता है। कर्मरहित जीवके कषायका लेप नहीं होता, इस कारण जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है आदिक कई बातें प्रथम वाक्यसे सिद्ध होती हैं। द्वितीय वाक्यसे बनता है कि कर्मके योग्य पुद्गलको ग्रहण करता है। यहाँ कर्मणः शब्द षष्ठी विभक्तिमें प्रयुक्त होता है। दोनों वाक्योंको सम्मिलित कर इस सूत्रका विस्तारमें यह अर्थ होगा कि कर्मके कारण सकषायपना होनेसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है। वह बंध कहलाता है।

(२३२) **सूत्रोक्त पुद्गल शब्दसे कर्मोंकी पौद्गलिकताकी सिद्धि**—इस सूत्रमें ५ वाँ पद है पुद्गलान्। कर्म पुद्गलात्मक होता है, यह विशेषता बतानेके लिए पुद्गल शब्दका ग्रहण किया गया है। कार्माण वर्गणायें और जो कर्मरूप परिणम गई वे सब पौद्गलिक हैं। शंका—कर्म पौद्गलिक है यह बात असिद्ध मालूम पड़ती है क्योंकि कर्म तो आत्माका गुण है और आत्मा अमूर्त है तो कर्म भी अमूर्त जीव जैसे ही होना चाहिए। वे पौद्गलिक कैसे कहलायेंगे ? उत्तर—कर्म पौद्गलिक हैं, इसका कारण यह है कि कर्म यदि अमूर्त होता तो उसके द्वारा आत्माका अनुग्रह और घात सम्भव न था। दो पदार्थ अमूर्त ही अमूर्त हों तो एकके द्वारा दूसरेमें बाधा आजाय या दूसरेका विघात हो जाय—यह बात नहीं बनती। जैसे कि आकाश अमूर्त है और दिशा आदिक भी अमूर्त हैं। तो अमूर्त आकाश दिशा आदिकका न अनुग्रह करता है, न विघात करता है। तो इसी प्रकार कर्म ये अमूर्त होते तो अमूर्त आत्माका न अनुग्रहका कारण बन सकता था, न विघातका कारण बन सकता था। इस अनुमान प्रमाणसे यह सिद्ध है कि कर्मको अमूर्त आत्माके विरुद्ध होना चाहिये अर्थात् मूर्त

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होना चाहिए और जो मूर्त है सो पौद्गलिक है।

(२३३) **सूत्रमें 'आदत्ते' पदके ग्रहणसे एकक्षेत्रावगाहमें बन्धानुभवनकी प्रसिद्धि**—इस सूत्रमें छठवाँ पद है आदत्ते अर्थात् ग्रहण करता है। जिस बंधका इस अध्यायमें वर्णन चलेगा उस बंधको यह जीव अनुभवता है, क्योंकि कषाय सहित है। जो कषायसहित जीव है वह बंधको अनुभवता है, ग्रहण करता है। आदत्तका ग्रहण करना तो स्पष्ट अर्थ है ही मगर नवीन कर्मबंध भी करता है, और वर्तमानमें बंधनका अनुभव भी करता है। ग्रहण करता है, बंधका अनुभव करता है इसका तात्पर्य यह है कि मिथ्यादर्शन आदिकके अभिप्रायसे स्निग्ध हुए, गीले हुए, कषायिक हुए आत्मामें चारों ओरसे मन, वचन, कायके कर्मका सूक्ष्म अनन्त प्रदेशी एक क्षेत्रमें रहने वाले कर्मयोग्य पुद्गलका बंध होता है। जिन कार्माणवर्गणावोंका बंध होता है वे कार्माणवर्गणायें इस आत्माके एक क्षेत्रमें पड़ी हुई हैं, सो जैसे किसी बर्तनमें अनेक प्रकारके रस वाले बीज फल फूल आदिक रख दिए जायें तो उनका मदिरारूपसे परिणमन हो जाता है इसी प्रकार आत्मामें ही स्थित पुद्गलका योग और कषायसे कर्मरूप परिणमन हो जाता है। उस बनी हुई मदिराको कहीं बाहरसे नहीं आना पड़ा किन्तु उस ही बर्तनमें रहने वाले पदार्थ ही मदिरारूप परिणम गए। ऐसे ही कर्म बननेके लिए उन कर्म पुद्गलोंको बाहरसे नहीं आना पड़ा किन्तु विस्रसोपचयके रूपमें इस जीवके प्रदेशोंमें ही एक क्षेत्रावगाही जो कार्माणवर्गणास्कंध रह रहा था वह ही योग कषायके कारण कर्मरूप परिणम गया है।

(२३४) **सूत्रोक्त सः पदसे बन्धस्वरूपका अवधारण**—कार्माणवर्गणावोंका कर्मरूप परिणम जाना इसही का नाम बंध है। बंध अन्य कुछ नहीं है। इसकी सूचना देने वाले इस सूत्रमें सः शब्द कहा गया है मायने वही बंध। कुछ लोग गुणगुणीके बंधको बंध कहते हैं अर्थात् अदृष्ट नामका गुण है। उसका आत्मा नामके गुणीमें समवाय सम्बन्ध हो जाता है। इस प्रकारसे उसे बंधन माना। आत्माके अदृष्टका आत्मामें समवाय हो जाना बंध है, इस प्रकारकी प्ररूपणा करने वाले दार्शनिकोंके यहाँ गुणगुणी बंध माने जानेपर मुक्तिका अभाव हो जायगा। कैसे कि अदृष्टको तो मान लिया गुण और आत्मा है अदृष्टवान गुणी, तो गुण और गुणी कभी अलग नहीं होते। गुणी अपने गुण स्वभावको कभी छोड़ता नहीं है। यदि गुणी अपने स्वभावको छोड़ बैठे तो जब स्वभाव ही कुछ न रहा तो गुण ही क्या रहा, पदार्थ ही क्या रहा ? तो जब आत्मा अदृष्टको छोड़ ही न सकेगा तो मुक्ति कहाँसे होगी ? जब तक अदृष्टिकी प्रेरणा है तब तक जीव संसारी है, इस कारण गुणगुणीके बंधको बंध नहीं समझना किन्तु योग और कषायके कारण जो आत्माके एकक्षेत्रावगाहमें रहने वाली कार्माण वर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं वह है बंध।

http://sahjanandvarnishastra.org/

(२३५) **बंध शब्दका करणसाधन, कर्मसाधन, कर्तृसाधन व भावसाधनमें अर्थ**—यह बंध शब्द करणादिसाधनरूप है। जब करण साधनकी विवक्षा है तो निरुक्ति होगी बध्यते अनेन आत्मा इति बन्धः अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा बँध जाय उसे बंध कहते हैं। इस विवक्षामें मिथ्यादर्शन आदिकको बंध कहा जायगा। मिथ्यादर्शन आदिक जो सूत्रमें कहे गए हैं वे बंधके कारण बताये हैं, फिर भी जो मिथ्यादर्शन अविरति आदिक भाव बन रहा है यह पूर्वमें बांधे हुए कर्मके उदयके निमित्तसे बन रहा है और जिस समय मिथ्यात्वादिक भाव बन रहा है उस समय आत्मा परतंत्र है। सो स्वयं बंधनरूप है अथवा कार्यरूपसे आत्माको परतंत्र करनेके कारण यह बंध कहा जाता है। मिथ्यादर्शनभाव होनेसे वर्तमानमें बन्धन और नवीन कर्मका बंधन होनेसे आगे भी बंधन रहेगा। जब बंध शब्दको कर्मसाधन की विवक्षासे कहा जायगा तब निरुक्ति होगी—बध्यते इति बन्धः अर्थात् मिथ्यादर्शन आदिक भावोंसे तो इस समय बँध ही रहा है और नवीन द्रव्यकर्म भी बंध रहा है, इस प्रकार मिथ्यादर्शन आदिक बंधके कारण भी हैं और बंधरूप भी हैं। बंध शब्दका जब कर्तृसाधनकी अपेक्षासे अर्थ किया जाय तो निरुक्ति होगी—बध्नाति इति बंधः, जो बाँधे, आत्मशक्तिका प्रतिबंध करे वह बंध कहलाता है। आत्मशक्ति क्या है? ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध, अनाम, अगोत्र, अन्तराय, चारित्र, आनन्द इन सब आत्मशक्तियोंका जो प्रतिबंध करता है, रोकता है, प्रकट नहीं होने देता वह बंध कहलाता है। वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे कर्म यद्यपि आत्माके किसी भी परिणमनको नहीं करता, चाहे वह शक्तिके रोकने रूप हो तथापि उन शक्तियोंके रुकनेमें प्रकट न होनेमें निमित्त तो कर्मविपाक है, सो निमित्त दृष्टिकी प्रधानतासे यहाँ कर्तृसाधन बन जाता है और तब जैसे कि उपचार भाषामें कहते हैं, यह कहा जायगा कि ज्ञानदर्शन आदिक आत्मशक्तियोंका जो प्रतिबंध करे सो बंध कहलाता है। तो मिथ्यादर्शन आदिक भाव इन सब शक्तियोंका प्रतिबंध करता ही है इसलिए वह बंध है और नवीन बंधका कारणरूप भी है। जिस समय बंध शब्दका अर्थ भावसाधनमें किया जाय उस समय निरुक्ति होगी बंधनं बंधः, बंधनको बंध कहते हैं, बंधन अर्थात् परतंत्रता। भावबंधनमें जैसे ज्ञान ही आत्मा है, जो जानना है सो आत्मा है, यहाँ अभेद विवक्षासे एक समान वृत्ति बन जाती है, इसी प्रकार भावसाधनकी विवक्षामें बंधनको बंध कहते हैं।

(२३६) **संसारी जीवोंमें कर्मका उपचय और अपचय**—इन संसारी जीवोंके हो क्या रहा है कि पहले बंधे हुए कर्म तो उदयमें आकर खिरते जाते हैं और नवीन कर्म बँधते जाते हैं। जैसे कि भंडारसे पुराने धान निकाल लिए जाते हैं और नये धान भर दिए जाते हैं, ऐसे ही अनादि कार्माण शरीररूप भंडारमें कर्मोंका आना जाना होता रहता है। वास्तवमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कर्म कर्मशरीरके साथ बनता है, उन्हींके साथ रहता है इसलिए भंडार कार्माण शरीर ही कहा गया है । तो इस कार्माण शरीरमें जो पहले आये हुए कर्म हैं वे तो फल देकर झड़ जाते हैं और नवीन कर्म आ जाते हैं, इस प्रकार इस कार्माण शरीरमें कर्मका हटना और आना अर्थात् उपचय और अपचय ये बराबर चलते रहते हैं ? यहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या ये बंध एक रूप हैं अथवा इनके अनेक प्रकार हैं ? इस जिज्ञासाके समाधानके लिए सूत्र कहते हैं ।

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥८-३॥

(२३७) **चार प्रकारके बन्धका निर्देश**—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभवबंध और प्रदेशबन्ध ये चार प्रकारके बंध होते हैं । कर्मोंमें प्रकृतिका पड़ना कि यह कर्मवर्गणा समूह ज्ञानका आवरण करेगा, यह दर्शनका आवरण करेगा आदिक रूपसे बंधे हुए कर्मोंमें प्रकृतिका नियत हो जाना प्रकृतिबंध कहलाता है, अर्थात् उन कार्माणवर्गणाओंमें प्रकृतिपनेका परिणमन होना प्रकृतिबंध है । स्थितिबंध—बद्ध कार्माणवर्गणावोंमें स्थितिका पड़ना कि यह कर्मसमूह इतने काल तक आत्माके साथ रहेगा इस प्रकारकी स्थितिके बन्धनेका नाम है स्थितिबन्ध । अनुभवबन्ध अर्थात् अनुभागबन्ध— बद्ध कर्मोंमें अनुभागका पड़ना कि यह कर्मसमूह इतनी श्रेणीका फल देगा, ऐसा अनुभागका बँधना अनुभागबन्ध कहलाता है । प्रदेशबन्ध— प्रदेशके मायने परमाणु है । कर्मपरमाणुका बन्धना प्रदेशबन्ध कहलाता है । ये चारों बन्ध एक साथ ही होते हैं । जिस समय योग और कषायका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणमती हैं उस ही समय वह इन चार रूपोंमें परिणमता है । प्रकृति शब्दमें प्र उपसर्ग है और कृ जिसका मूल रूप है डुकृञ् करणे कृ धातु है और उसमें इक्तिन् प्रत्यय लगा है, जिसका व्युत्पत्ति अर्थ हुआ ज्ञानावरणादि रूपसे अर्थात् अर्थका बोध न हो सके इस रूपसे कर्मका परिणमना प्रकृतिबन्ध है । इसकी निरुक्ति है—प्रक्रियते इति प्रकृतिः । ज्ञानावरणादिक रूपसे, अर्थात् पदार्थका ज्ञान न होना इस रूपसे जो कार्माणवर्गणा कर्मरूप की जाती है वह प्रकृति है । स्थिति शब्द ष्ठा स्वगतिनिवृत्तौ धातुसे बना है । स्थितिका अर्थ है स्थान । अथ स्थान अर्थात् ठहरे रहना । जितने काल तक कर्म आत्मामें ठहरता है उतने काल उसकी स्थिति कहलाती है । अनुभव शब्दमें अनु उपसर्ग है । उस उपसर्गपूर्वक भू धातुसे अनुभव शब्द बना है । जिसका अर्थ है फलदान शक्ति । स्थिति और अनुभव—ये दो शब्द भावसाधनमें प्रयुक्त किए गए हैं । प्रदेशबन्ध, प्रदिश्यते असौ इति प्रदेशः यह कर्मसाधनका रूप है, जो कहा जाय, बताया जाय वह प्रदेश है अर्थात् कर्मपरमाणु । कर्म परमाणुओंका कर्मरूप परिणमना प्रदेशबन्ध है ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(२३८) **प्रकृतिबन्धका स्वरूप**—प्रकृति और स्वभाव ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे प्रश्न किया जाय कि नीमकी क्या प्रकृति है ? तो उत्तर होता है कि कड़वापन स्वभाव है। गुड़की क्या प्रकृति है ? तो उत्तर है कि मधुरता स्वभाव है। प्रकृति और स्वभाव ये भिन्न चीजें नहीं हैं, उसी प्रकार कोई पूछे कि ज्ञानावरणकी क्या प्रकृति है ? तो उत्तर है कि पदार्थका ज्ञान न होना। जो कार्माणवर्गणायें ज्ञानरूप परिणामी हैं उनके विपाकमें जीव पदार्थोंका अवगम नहीं कर पाता। दर्शनावरणकी क्या प्रकृति है ? सुख दुःखका संवेदन होना। दर्शनमोहकी प्रकृति है प्रयोजनभूत अर्थोंका श्रद्धान न होना। जो मोक्षमार्गके कामके हैं ऐसे तत्त्वोंका श्रद्धान न होना यह दर्शनमोहनीयका स्वभाव है। चारित्रमोहनीयकी क्या प्रकृति है ? असंयम परिणाम होना। विषयोसे विरक्ति न होना तथा हिंसा आदिक परिणामोंसे विरक्ति न होना। आयुकर्मकी क्या प्रकृति है ? अवधारण। भवमें जीवको रखे रहना। जो शरीर पाया है उस शरीरमें जीवको अवस्थित रखना आयुकर्मकी प्रकृति है। नाम कर्मका क्या प्रकृति है ? नारकादिक नामका करना। नाम तो किसी वस्तुका किया जाता है। जो घटना घटे, जो देहपिण्ड बने उसमें नाम किया जाता है। यह नामकर्मकी प्रकृति है। गोत्रकर्मकी प्रकृति क्या है ? उच्च और नीच स्थानोंका बोधित होना। तो कोई उच्च कुली है, कोई नीच कुली है। इस प्रकारका व्यवहार गोत्रकर्मकी प्रकृति है। अंतराय कर्मकी प्रकृति दान आदिकमें विघ्न करना है। सो इस प्रकारके लक्षण वाला कार्य जिसकी प्रकृति बने उस कार्यके होनेका जो स्रोत बने, निमित्त बने उसे प्रकृति कहते हैं।

(२३९) **स्थितिबंध, अनुभवबन्ध व प्रदेशबन्धका स्वरूप**—स्थिति नाम है उस स्वभावकी च्युति न होनेका, अर्थात् जिस कर्म प्रकृतिमें जो स्वभाव पड़ा है वह स्वभाव बना रहना। जितने काल तक उस स्वभावरूपसे कर्म बना रहे उतनेको स्थिति कहते हैं। जैसे कहा जाय कि गौ दूधकी क्या स्थिति है अर्थात् गायके दूधमें जो मीठापन है वह चलित न हो, उसमें बना रहे यह उसकी स्थिति है ? सो जब तक रस न बदले तब तक उसकी स्थिति कहलाती है। और इन दूधोंकी स्थितिमें अन्तर है। जैसे ऊँटनीका दूध अधिक समय नहीं ठहरता, उसके रस, गंध सब एकदम बदल जाते हैं। तो उसकी स्थिति थोड़ी कहलायी। बकरीका दूध कुछ अधिक देर तक बना रहता है। गाय भैंसका दूध अपनी सही अवस्थामें कुछ और अधिक देर तक बना रहता है। तो जिसमें जो माधुर्य स्वभाव बना है वह नष्ट न होना उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। अनुभवबन्ध—जैसे बकरी गाय, भैंस आदिकके दूधमें तीव्र मंद आदिक भावोंसे रस विशेष पाया जाता है उसी प्रकार कर्म पुद्गलके अपने आपमें प्राप्त सामर्थ्य विशेषको अनुभव कहते हैं अर्थात् फल देनेकी डिग्रियाँ यह अनुभागबन्ध है। प्रदेश-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बन्ध परमाणुकी इयत्ताका निश्चय होना अर्थात् इस प्रकृतिमें इतने कर्मपरमाणु बन्धे हैं आदिक रूपसे इयत्ताका अनुभव होना प्रदेशबन्ध है। इस सूत्रमें विधि शब्द प्रकारका कहने वाला है। उस बंधके कितने प्रकार हैं ? तो प्रकृति आदिक चार प्रकारके हैं। यहाँ जो चार बंध कहे गए हैं उनमें से प्रकृतिबंध और प्रदेशबन्ध ये दो तो योगनिमित्तक होते हैं, किन्तु स्थितिबंध और अनुभागबन्ध ये कषायहेतुक होते हैं। जैसे जैसे तीव्र कषाय होती जाय वैसे ही वैसे विशेष तीव्र बन्ध होता जाता है। कार्य कारणके अनुरूप होता है। तो जैसे जैसे कषायें हों वैसे ही वैसे ये बन्ध भी होते रहते हैं। यहाँ तक बन्ध चार प्रकारके कहे गए। पहला बन्ध है प्रकृतिबन्ध। सो प्रकृतिबन्धमें मूल प्रकृतियाँ भी हैं, उत्तर प्रकृतियाँ भी हैं। तो उनमें मूल प्रकृतियोंका वर्णन कर रहे हैं।

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥८-४॥

(२४०) **द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयकी विवक्षामें प्रकृतिबन्धकी सामान्यरूपता व ज्ञानावरणादिकी विशेषरूपता होनेसे क्रमशः एक व बहुवचनमें प्रयोग**—अब प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ऐसी प्रकृतिके मूल भेद ८ हैं। यहाँ एक शङ्का होती है कि इस सूत्रमें पद दो दिए गए हैं। पहला पद है आद्यः, दूसरे पदमें कर्मके नाम दिए गए। यहाँ प्रथम पदमें है एकवचनमें और द्वितीय पदमें है बहुवचन। तो जब यहां समानाधिकरण्यकी बात चल रही है अर्थात् बन्ध ये ये कहलाते हैं तो इन दोनों पदोंमें वचन एक समान होने चाहिएँ थे। दूसरे पदमें बहुवचन है तो पहला पद भी बहुवचनमें हो जाना चाहिए ? उत्तर—यहाँ दो नयोंकी विवक्षामें दो पद दिये गए हैं इस कारण उनमें विरोध नहीं आता। द्रव्यार्थिकनयका विषय है सामान्य, सो जब सामान्यकी विवक्षासे कहा तो प्रकृतिबन्ध एक ही है। सामान्यमें तो एक स्रोतरूप चीज ली जाती है। इस प्रकार द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे आद्य शब्दमें एकवचनका प्रयोग किया गया है। अब उसका विशेष है ज्ञानावरणादिक ८ जो पर्यायार्थिकनयकी प्रधानतासे कहे जाते हैं सो जब पर्यायार्थिकनयकी प्रधानतासे कहा गया तो उन ८ पदोंके समाससे बहुवचनका प्रयोग किया गया है। लोकमें भी समानाधिकरण होनेपर भी वचनभेद देखा गया है। जैसे श्रोता लोग प्रमाण है, गायें धन है तो बहुवचनके साथ एकवचनका प्रयोग होना अनेक जगह सम्मत माना गया है।

(२४१) **ज्ञानावरण आदिका व्युत्पत्त्यर्थ**—ज्ञानावरणादिक ८ नाम लिए गए हैं, उनकी व्युत्पत्ति यथासम्भव कर्तृसाधन, कर्मसाधन और उभयसाधनमें की गई है। जैसे आवरणका अर्थ है—आवृणोति आव्रियते अनेन इति आवरणं, जो आवरण करे, ढाके अथवा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जिसके द्वारा वस्तु ढका जाय उसे आवरण कहते हैं। आवरण शब्द यहां दोनोंमें लगाया जाता है—ज्ञानावरण और दर्शनावरण। वेदनीय शब्दका अर्थ है वेद्यते इति वेदनीयं, जो वेदा जाय, अनुभवा जाय उसे वेदनीय कहते हैं। मोह शब्दकी निरुक्ति है—मोहयति मुह्यते, जो मोहित करे, बेहोश करे उसे मोह कहते हैं। तो मोहनीयकर्मकी प्रकृति है बेहोश करना। अब वह बेहोशी दो तरहकी है—(१) एक तो पूरी बेहोशी जिसे मिथ्यात्व कहते हैं और (२) दूसरी कुछ प्रकाश रहते हुए भी बेहोशी, जिसे रागद्वेष कहते हैं। ये मोहनीयकी प्रकृतियां हैं। आयु शब्दका अर्थ है जो नरकादि भवोंमें ले जाय उसे आयु कहते हैं। जैसे कोई अभी तिर्यंचभवमें है और मर कर उसे नरक जाना है तो यहांकी आयु समाप्त होनेके बाद जो नरकायु लगेगी उस आयुकी प्रकृति है नरकमें ले जाना। इसकी व्युत्पत्ति है एति अनेन नारकादिभवे इति आयुः। नामकर्मका अर्थ है—नमयति आत्मानं इति नाम, जो आत्माको निम्न कर दे सो नामकर्म है। नारकादि भवोंमें जो शरीर मिलता है उस शरीर सम्बंधित सभी बातें नामकर्मकी प्रकृति कहलाती हैं। गोत्र शब्द गु धातुसे बना है, जिसका अर्थ है कहना, निर्देश करना, तो जो ऊँच और नीच रूपको बतलाये उसे गोत्र कहते हैं, गूयते शब्द्यते अनेन इति गोत्रं। अंतरायका अर्थ है अन्तर करना अर्थात् विघ्न करना। कोई दो वस्तुओं का सम्बन्ध बनता हो तो उसके बीच आ पड़े तो यही तो उनमें विघ्न कहलाता है। इसका निरुक्ति अर्थ है अन्तरं एति इति अन्तराय: अथवा अन्तरं ईयते अनेनेति अन्तराय:। दाता और देयके बीचमें पड़ जाना, अन्तर करना अन्तराय कहलाता है। इस प्रकार इन ८ कर्मोंकी प्रकृतियाँ उन कर्मोंके नामसे प्रसिद्ध होती हैं। जैसे खाये हुए भोजनका अनेक प्रकारका विकार बनता है। वह भोजन वात, पित्त, कफ, खल, रस आदिक अनेक रूपसे परिणम जाता है। तो भोजन किया, अब वहाँ अन्तरमें कोई कुछ प्रयोग तो नहीं करता, पर जठराग्निका मेल होनेसे वह भोजन स्वयं अनेकरूप परिणम जाता है। इसी प्रकार बिना किसी प्रयोगके कर्म आवरण रूपसे अनेक शक्तियोंसे युक्त होकर आत्मामें बन्ध जाते हैं।

(२४२) **ज्ञानावरण और मोहमें भेद होनेसे दोनोंका पृथक् पृथक् निर्देश**—यहाँ शंकाकार कहता है कि मोहके होनेपर भी हित अहितका विवेक नहीं होता और हित अहित का जहाँ विवेक नहीं है उसीका नाम मोह है, मोहका काम ज्ञानका ढकना है। तो ज्ञानावरण और मोहनीयमें कुछ अन्तर तो न रहा, फिर अलग क्यों कहा? उत्तर—पदार्थके यथार्थस्वरूपका बोध होने पर भी यह ऐसा ही है इस प्रकार सद्भाव अर्थका श्रद्धान न होना यह तो मोह है और ज्ञान न होना यह ज्ञानावरण है। तो ज्ञानावरणसे वस्तु ग्रहणमें ही नहीं आता, न सम्यक्रूपसे, न विपरीत रूपसे। जहां ज्ञानावरणका उदय है वहां ज्ञान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पैदा नहीं होता। यह तो है ज्ञानावरणका काम और ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर वस्तु का ज्ञान तो बनता है पर यथार्थरूपमें यह वस्तु ऐसा ही है इस प्रकारका निर्णय नहीं बनता, सो यह मोह है। यों ज्ञानावरणमें और मोहमें अन्तर है। अथवा जैसे बीज बोया, अंकुर उत्पन्न हो गए तो अंकुर तो हुआ कार्य और बीज हुआ कारण तो बतलावो बीजमें और अंकुरमें भिन्नता है या नहीं ? स्पष्ट ध्यान आता कि भिन्नता है, उसी प्रकार अज्ञान मोह ये तो हैं कार्यभेद और उनका कारण है ज्ञानावरणादि व मोहनीय तो इस प्रकार उनमें भेद होना ही चाहिए। कार्यमें अन्तर भी देखा जाता है, अज्ञानका और मोहका कार्य और भाँति है, ज्ञानावरण आदिकका कार्य और भाँति है इसलिए ज्ञानावरण और मोहनीयमें अन्तर है।

(२४३) **ज्ञानावरण व दर्शनावरणका लक्षणभेद होनेसे पृथक् पृथक् ग्रहण**—ज्ञानावरण व दर्शनावरण भी भिन्न भिन्न हैं। जब ज्ञान और दर्शनमें भिन्नता है, ज्ञानका काम है विशेष प्रतिभास, दर्शनका काम है सामान्य प्रतिभास अथवा ज्ञानका काम है स्वपर अर्थका परिचय और दर्शनका काम है ज्ञानपरिणत आत्माका प्रतिभास। तो जब ज्ञान और दर्शनमें अन्तर है तो ज्ञानावरण और दर्शनावरणका भी अन्तर समझ लेना। यह ज्ञानावरण एक सामान्यरूपसे आस्रव मात्र हुआ, लेकिन वही मति आवरण, श्रुत आवरण आदिक रूपसे परिणमन कर जाता है। जैसे जल ऊपरसे बरसा तो एक ही रूप है किन्तु ताँबा, लोहा, पीतल आदिक पात्र विशेषमें वह जल पहुंचा तो अब उसका भिन्न रूपसे परिणमन बन गया, रस भी भिन्न-भिन्न रूपसे हो गया, ऐसे ही ज्ञानावरणका काम है ज्ञानको रोकना, ज्ञान प्रकट न होने देना। तो इस स्वभावदृष्टिसे तो ज्ञानावरण सब एक ही काम करते हैं, पर प्रत्येक आस्रवमें सामर्थ्यभेद होनेसे मतिश्रुत आदिकके आवरणरूपसे कहा जाता है। ज्ञानावरणका कार्य एक है—ज्ञान न होने देना, पर किस जगह कौनसी योग्यता वाला ज्ञान हुआ करता है और उसे न होने दे तो इस तरह ज्ञानावरण ५ रूपोंसे बन जाता है। यही बात दर्शनावरण आदिकमें भी समझ लेना चाहिए।

(२४४) **पौद्गलिक कर्मस्कन्धोंकी अनेकविपाकनिमित्तता**—यहाँ शङ्काकार कहता है कि पुद्गलद्रव्य जब एक है, ज्ञानावरणादिक ८ कर्मपुद्गल ही तो हैं तो एक पुद्गलद्रव्यमें किसीका आवरण करनेका निमित्त होना, सुख दुःखादिकमें निमित्त होना, ऐसे भिन्न-भिन्न कार्योंमें निमित्त होने का विरोध मालूम होता है, अतः एक पुद्गलकर्म अनेक कार्योंका निमित्त नहीं हो सकता। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उन पुद्गल कर्मोंका ऐसा ही स्वभाव है। एक भी पदार्थ हो तो उसमें अनेक प्रकारका सामर्थ्य

http://sahjanandvarnishastra.org/

पाया जाता है। जैसे अग्नि एक है फिर भी उसीमें दहन करनेका सामर्थ्य है, पकानेका सामर्थ्य है, प्रकाश करनेका सामर्थ्य है। इन सब सामर्थ्योंका अग्निमें कोई विरोध नहीं है, इसी प्रकार पुद्गलद्रव्य एक ही है तो भी वह ज्ञानके आवरणका निमित्त होता है, सुख दुःख आदिकका भी निमित्त होता है, कोई विरोध नहीं है। दूसरी बात यह है कि उस एक पुद्गलद्रव्यमें स्याद्वाद शासनमें एकपना व अनेकपना माना गया है द्रव्यार्थिक दृष्टिसे तो भी पुद्गलद्रव्य एक है और अनेक परमाणुवोंके स्निग्ध रूक्ष बन्धके कारण जो अनेक स्कंधरूप पर्याय हुई है उन पर्यायोंकी दृष्टिसे भी पुद्गलद्रव्य अनेक रूप है, इस कारण एक पुद्गलकर्म अनेक बातोंके लिए निमित्तपनेका विरोध नहीं है।

(२४५) **एकमें अनेक कार्यनिमित्तत्वकी पराभिप्रायसे भी सिद्धि**—अब जरा इस ही बातको अर्थात् एकमें अनेकका विरोध नहीं है, अन्य दार्शनिकोंकी दृष्टिसे भी परखिये। पृथ्वी जल, अग्नि, वायु इनसे रची हुई जो इन्द्रिय है वह भिन्न-भिन्न जातिकी है। तो उन इन्द्रियोंका एक ही दूध या घी उपकारक होता है, पुष्ट करने वाला होता है। जैसे नासिका पृथ्वी तत्त्वसे बनी है, रसना जलतत्त्वसे बनी है, स्पर्शन वायुतत्त्वसे बना है और नेत्र अग्नितत्त्वसे बने हैं ऐसा किन्हीं दार्शनिकोंने माना है। उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि दूध घी आदिकके प्रयोगसे सभी इन्द्रियोंका पोषण होता है। तो अब यहाँ देखिये कि एक ही दूध घी सभी इन्द्रियोंका अनुग्राहक देखा गया है। शायद कोई यह कहे कि वृद्धि तो एक ही चीज है अथवा घी दूध आदिकसे जो बढ़वारी हुई है वह कार्य तो एक रूप हैं। उस एक वृद्धिका दूध घी ने उपकार किया है, इसलिए हमारी शंका ज्योंकी त्यों रही। एक पुद्गल द्रव्यकर्म नाना प्रकारके कार्योंका निमित्त कैसे हो जाता? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि जितनी इन्द्रियाँ हैं उन सबकी वृद्धियाँ हैं तो प्रत्येक इन्द्रियकी वृद्धि जुदी-जुदी कहलाती है। जैसे कि इन्द्रियाँ भिन्न हैं उसी प्रकार इन्द्रियोंकी वृद्धियाँ भी भिन्न हैं। जिस प्रकार भिन्न जाति वाले तत्त्वोंसे अग्नि जाति वाले नेत्रका अनुग्रह होता है उसी प्रकार आत्मा और कर्म ये चेतन और अचेतन हैं, इनकी जाति एक नहीं है। तो असमानजातीय कर्म आत्माका अनुग्रह करने वाला है यह सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार कर्मके मूल भेद ८ सिद्ध हुए हैं।

(२४६) **कर्मकी तथा कर्मबन्धकी अनेक प्रकारताका दिग्दर्शन**—अब जिज्ञासा होती है कि क्या ८ ही संख्या है या अन्य प्रकार कर्मोंकी संख्या हो सकती है? इसका समाधान—कर्मके कितने ही भेद बना लिए जायें— जैसे कर्म एक है, सामान्यरूपसे सब पौद्गलिक कार्माणवर्गणायें हैं, यहाँ विशेषकी विवक्षा न रही। जैसे सेना इतना कहनेमें हाथी, घोड़ा, प्यादे आदिक सब गर्भित हो जाते हैं, पर सेना शब्दके कहनेमें विशेषोंकी विवक्षा नहीं रहती।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

समुदायकी अपेक्षा एक ही सेना है, अथवा जैसे कह दिया—बगीचा तो उसमें आम, नींबू आदिक अनेक प्रकारके वृक्ष हैं, पर उनकी विवक्षा न होनेसे सामान्य आदेशसे बन एक कहलाता है, ऐसे ही पुद्गलकर्म एक है, कर्म अब दो किस प्रकार हैं ? पुद्गलकर्म दो प्रकार के हैं—(१) पुण्यकर्म और (२) पापकर्म। जैसे सेना एक कही गई पर इस सेनामें कुछ अफसर हैं, कुछ सिपाही हैं तो जैसे वह सेना दो भागोंमें बँट गई—(१) सैनिक अफसर और (२) सैनिक सिपाही, इसी प्रकार वे पुद्गलकर्म दो भागोंमें बँट गए—(१) पुण्यकर्म और (२) पापकर्म। अथवा पुद्गलकर्म तीन प्रकारका है—(१) अनादि सान्त, (२) अनादि अनन्त और (३) सादिसान्त। कर्मकी संतति अनादिकालसे चली आयी है मगर किसीके कर्मोंका अन्त हो जाता है तो उसके कर्म अनादि सान्त कहलाये। अभव्य जीवोंके कर्म अनादिसे चले आये हैं और अनन्त काल तक रहे जायेंगे तो उनके कर्म अनादि अनन्त कहलायेंगे। तथा किसी ज्ञानी जीवके कर्म संवृत हो गए, कुछ समयसे नवीन बंध नहीं हो रहा, फिर परिस्थितिवश, अज्ञानदशाको पाकर कभी नवीन बन्ध होने लगे तो सादि कहलाता है और उन्हींका अन्त:प्रज्ञदशामें कभी अन्त हो जायगा, इसलिए सान्त भी कहलाये अथवा प्रत्येक कर्म किसी दिन बन्धना, किसी दिन खिरता, सो सभी सादि सान्त बन्ध है। अथवा वह कर्मबन्ध इस प्रकार भी तीन तरहका है—(१) भुजाकार बन्ध, (२) अल्पतर बन्ध, (३) अवस्थित बन्ध। बन्धका और विस्तार बना लें तो वह भुजाकार बन्ध कहलाता है। कहीं कर्म अधिक बन्ध रहे थे उससे और कम कम बन्धे तो वह अल्पतर बन्ध कहलाता है तथा कर्मबन्ध जैसे हो रहा था वैसा ही होता रहे तो वह अवस्थित बन्ध कहलाता है। अथवा बन्ध ४ प्रकार का है—(१) प्रकृतिबन्ध, (२) स्थितिबन्ध, (३) अनुभवबन्ध और (४) प्रदेशबन्ध। इनका वर्णन इससे पहलेके सूत्रोंमें आ ही गया है। अथवा बन्ध ५ प्रकारका है—द्रव्यबन्ध, (२) क्षेत्रबन्ध, (३) कालबन्ध, (४) भवबन्ध और (५) भावबन्ध। यह बन्ध उनकी निमित्त दृष्टिसे ५ प्रकारका बना है। अथवा बन्ध ६ जीवकायोंके विकल्पसे ६ प्रकारका होता है। अथवा बन्ध ७ तरहका है—(१) रागके निमित्तसे होने वाला बन्ध (२) द्वेषके निमित्तसे होने वाला बन्ध (३) मोहके निमित्तसे होने वाला बन्ध (४) क्रोधके निमित्तसे होने वाला बन्ध, ऐसे ही (५) मानके निमित्तसे होने वाला बन्ध, (६) मायाके निमित्तसे होने वाला बन्ध और (७) लोभके निमित्तसे होने वाला बन्ध। अथवा कर्मबन्ध ८ प्रकारका है। ज्ञानावरण आदिक जिनके नाम इस ही सूत्रमें कहे गए हैं। इनसे बढ़ा बढ़ाकर संख्यात भेद कर्मके बन जाते हैं। और अध्यवसाय साधनके भेदसे असंख्यात कर्म हो जाते हैं और भेद चूंकि अनन्तानन्त हैं, उनकी दृष्टिसे अनन्त कर्मबन्ध कहलाता है अथवा इन ज्ञानावरणा-

http://sahjanandvarnishastra.org/

दिक कर्मोंका अनुभाग अनन्त शक्ति वाला होता है, उस दृष्टिसे अनन्त बन्ध कहलाता है।

(२४७) आठ **कर्मोंके सूत्रनिबद्ध क्रमका प्रयोजन**—इस सूत्रमें ८ कर्मोंका जिस क्रम से नाम लिया गया है उसका प्रयोजन है। इसमें सबसे पहले ज्ञानावरण नाम लिखा है। ज्ञान अर्थात् ज्ञानके द्वारा आत्माका ज्ञान होता है इसलिए सर्वप्रथम ज्ञानावरण नाम रखा गया है, क्योंकि ज्ञान ही आत्माकी जानकारीका साधकतम है अर्थात् ज्ञानसे ही आत्मा जाना जाता है और ज्ञानसे ही सर्व पदार्थोंकी व्यवस्था मानी जाती है। ज्ञानावरणके बाद दर्शनावरण लिखा है। इसका कारण यह है कि दर्शन भी प्रतिभास स्वरूप है लेकिन अनाकार प्रतिभास रूप है, जो कि साकार उपयोगसे कुछ लघु कहलाता है, क्योंकि दर्शनमें स्पष्ट ग्रहण नहीं होता, ज्ञानमें वस्तुका स्पष्ट ग्रहण होता है, सो ज्ञानकी अपेक्षा तो दर्शन निकृष्ट रहा, लेकिन आगे कहे जाने वाले वेदनीय आदिककी अपेक्षा यह प्रकृष्ट है। इस कारण ज्ञानावरणके पश्चात् और वेदनीय आदिकसे पहले दर्शनावरणका नाम लिया गया है। इसके बाद वेदनीय कर्म कहा गया है। वेदनीयमें वेदना होती है और उस वेदनाका सम्बन्ध ज्ञान दर्शनके साथ लगता है, क्योंकि वेदना ज्ञान दर्शनके साथ ही चलती है। जहाँ ज्ञान दर्शन नहीं है वहाँ वेदना नहीं हो सकती। जैसे घट पट आदिक पदार्थ वे अचेतन हैं, वहाँ ज्ञान दर्शन नहीं है। इस कारण वहाँ वेदना नहीं चलती। वेदनीयके बाद मोहनीयका नाम लिया है क्योंकि ज्ञानका, दर्शनका सुख दुःखका इन सबका विरोध है मोहसे। जो मोही पुरुष है वह न तो जानता है, न देखता है, न सुख दुःखका वेदन करता है। यहाँ शंकाकार कहता है कि मूढ़ पुरुषोंके भी जिनके मोह बसा है उन पुरुषोंके भी सुख दुःख ज्ञान और दर्शन पाये जाते हैं। यदि मोही जीवके साथ सुख दुःख ज्ञान दर्शनका विरोध हो तो मिथ्यादृष्टि और संयमी जीवों के फिर सुख दुःख ज्ञान दर्शन न रहना चाहिए, परन्तु रहता है, फिर यह युक्ति देना कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीयके बाद मोहनीयका नाम इस कारण लिखा है कि इस का उनसे विरोध है, यह बात संगत नहीं बैठती। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि मोह का जो ज्ञान दर्शन आदिकसे विरोध कहा है सो उसका अर्थ है कि कहीं तो विरोध देखा जाता है। सर्वत्र विरोध न सही, पर जहाँ व्यामोह अधिक है या एकेन्द्रिय आदिक जीव हैं उनके ज्ञान दर्शन अत्यन्त कम पाये जाते हैं। फिर दूसरी बात यह है कि भले ही मोही जीवों के भी ज्ञान दर्शन मिले, पर मोहसे जो दबा हुआ है उस प्राणीके हित और अहितका विवेक आदिक तो हो ही नहीं सकता। अब मोहनीयके समीपमें आयुका नाम लिया है, वह यह सिद्ध करता है कि प्राणियोंका सुख दुःख आदिक सब आयुके कारणसे होता है। आयुके उदयमें यह जीव शरीरमें रहता है तो उसके सुख दुःख मोह आदिक सभी बनते हैं, यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सम्बन्ध बतानेके लिए मोहनीयके पास आयु शब्दको रखा है। आयुकर्मके बाद नामकर्मका नाम लिया है। इसका कारण यह है कि नामकर्मका उदय आयुकर्मके उदयकी अपेक्षा रखता है। अर्थात् जैसी आयुका उदय होता है उसके अनुरूप गति जाति आदिक नामकर्मका उदय चलता है। नामके बाद गोत्र शब्द रखा है क्योंकि जिसको शरीरादिक प्राप्त हो गए हैं, आयु के कारण जीव शरीरमें मिल रहा है ऐसे पुरुषके गोत्रके उदयके कारण ऊँच नीचका व्यवहार चलता है इस कारण नामकर्मके बाद गोत्रकर्मका नाम रखा है। इस प्रकार ७ कर्मोंका क्रम कहा, अब बचा है अन्तरायकर्म, सो उस बचे हुए कर्मको अन्तमें रखा गया है। अब यह जिज्ञासा होती है कि मूल प्रकृति बंध ८ प्रकारका कहा है। सो तो जानो। अब दूसरा उत्तर प्रकृतिबन्ध है, वह कितनी तरहका होता है इसका वर्णन करनेके लिए सूत्र कहते हैं।

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदो यथाक्रमम् ॥८-४॥

(२४८) **प्रकृतिबन्धके उत्तरप्रकृतिबन्धोंकी संख्याका निर्देश**—वे ज्ञानावरणादिक कर्म क्रमसे ५, ९, २, २८, ४, ४२, २ और ५ भेद वाले हैं। इस सूत्रमें दो पद हैं। प्रथम पदमें तो सर्व संख्यावोंका द्वन्द्व समास किया गया है, फिर भेद पदके साथ बहुब्रीहि समास किया गया है। जिससे अर्थ होता है कि ५, ९ आदिक हों भेद जिसके ऐसा वह प्रकृतिबन्ध है। यहां कोई शंका कर सकता है कि इस सूत्रमें द्वितीय शब्द ग्रहण करना चाहिए था, इस से स्पष्ट सिद्ध हो जाता कि पहले जो भेद बताये गए थे वे तो मूल प्रकृतिबन्धके थे। अब जो भेद बताये जा रहे हैं सो उत्तर प्रकृतिके बन्ध हैं। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह शंका यों ठीक नहीं कि जब पहले मूल प्रकृतिके भेद बता दिये और अब मूल प्रकृतियोंमें ही ये भेद बताये जा रहे हैं तो अपने आप ही यह सिद्ध हो जाता है कि यह उत्तर प्रकृति बन्धका विवरण है। इस सूत्रमें कहे गए भेद शब्दका प्रत्येक संख्याके साथ सम्बन्ध रखाना, जैसे ज्ञानावरणकर्म ५ भेद वाला है, दर्शनावरण कर्म ९ भेद वाला है, वेदनीय कर्म दो भेद वाला है, मोहनीय कर्म २८ भेद वाला है, आयुकर्म ४ भेद वाला है, नामकर्म ४२ भेद वाला है, गोत्रकर्म दो भेद वाला है और अंतराय कर्म ५ भेद वाला है। इन कर्मोंके साथ इन संख्यावोंका क्रमसे सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। यह सूचना देनेके लिए सूत्रमें यथाक्रम शब्द दिया गया है। नामकर्मकी जो ४२ प्रकृतियाँ बतायी हैं सो उनमें पिण्ड प्रकृतियोंको एक-एक माना है। जैसे गतिनामकर्म। उसको एक ही मान लिया। यद्यपि उसके चार भेद हैं लेकिन यहाँ उन प्रभेदोंकी विवक्षा नहीं की गई और जिसके भेद नहीं हैं ऐसी कर्म प्रकृतियां भी इस गिनतीमें हैं। इस प्रकार पिण्ड और अपिण्ड सर्व प्रकृतियां मिलकर ४२ हैं। यदि पिण्डके भेद गिने जायें तो नामकर्मकी सब प्रकृतियां ९३ होती हैं। अब यहां जिज्ञासा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होती है कि यदि प्रथम आवरण अर्थात् ज्ञानावरण ५ का आवरण करता है तो वे ५ कौन से हैं जिनका आवरण यह प्रथम कर्म करता है।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥८-६॥

(२४६) **ज्ञानावरणकर्मकी उत्तरप्रकृतियोंका नामनिर्देश**—मतिज्ञानका, श्रुतज्ञानका अवधिज्ञानका, मनःपर्ययज्ञानका और केवलज्ञानका आवरण है। तो ज्ञानावरण कर्मके ५ भेद इस प्रकार हैं—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्ययज्ञानावरण और (५) केवल ज्ञानावरण। इन पाँचों ज्ञानोंका संक्षेप रूपमें लक्षण प्रथम अध्यायमें बताया गया है। उन ज्ञानोंका आवरण जिस कर्मके उदयसे होता है उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। यहां यह शंका होती है कि केवल मत्यादीनां, इतना ही शब्द कहते तो इसका वही अर्थ आ जाता जो कि इतना बड़ा सूत्र बनानेमें किया गया है। इस सूत्रमें ५ के नाम ही तो लिए गए हैं सो मति आदिकमें भी वे ही ५ नाम आ जाते क्योंकि ये ज्ञान पहले कहे गए थे। सो आदि शब्द कहते ही उन सबका ग्रहण हो जाता है और सूत्रमें भी लाघव हो जाता। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि इन सबके नाम जो दिए गए हैं उससे सिद्ध यों होता है कि आवरणका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए। याने मतिज्ञानका आवरण श्रुतज्ञानका आवरण आदिक। यदि ये ५ नाम यहां न देते तो यह भी सम्बन्ध बन जाता कि मति आदिकोंका एक ही आवरण है, याने एक ज्ञानावरण मति आदिक पाँचों ज्ञानोंका आवरण करता है, पर ऐसा नहीं है। मतिज्ञानावरण मतिज्ञानको ढाकता है, श्रुतज्ञानावरण श्रुतज्ञानको ढाकता है, अवधिज्ञानावरण अवधिज्ञानका आवरण करता है, मनःपर्ययज्ञानावरण मनःपर्यय ज्ञानको ढाकता है, केवल ज्ञानावरण केवलज्ञान नहीं होने देता!

(२५०) **आवरणका सम्बन्ध बतानेके लिये पांचों ज्ञानोंका नाम देनेका कारण**—यहां शंकाकार कहता है कि मत्यादीनां ऐसे बहुवचनका प्रयोग करनेसे और चूंकि ज्ञानके ५ प्रकारोंकी प्रसिद्धि है सो ५ संख्याकी प्रतीति तो स्वयं ही हो जायगी, फिर सूत्रमें सभी ज्ञानोंके नाम लिखनेकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि सूत्रमें समान ज्ञानोंके नाम न लिखे जाते और केवल बहुवचन देकर ही उनमें आवरण जोड़े जाते तो यह भी जोड़ा जा सकता था कि मति ज्ञानके ५ आवरण हैं अर्थात् प्रत्येक ज्ञानमें ५-५ आवरण सिद्ध हो जाते हैं जो कि अनिष्ट हैं। मतिज्ञानावरणसे तो मतिज्ञान ही ढकेगा, श्रुतज्ञानावरणसे श्रुतज्ञान ही ढकेगा, लेकिन अब यह अर्थ हो जायगा कि पांचों आवरणोंसे प्रत्येक ज्ञान ढका हुआ है। और जब सूत्रमें पांचों ज्ञानोंके नाम लिख दिए तो इन पांचोंके नाम लिखने की सामर्थ्यसे यह सिद्ध हो जायगा कि मतिज्ञानका आवरण करने वाला श्रुत ज्ञाना-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वरण है, ऐसा प्रत्येक ज्ञानावरण सिद्ध हो जाता है ।

(२५१) **कथंचित् सत् कथंचित् असत् मतिज्ञान आदिके आवरणकी संभवता**––यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि यह बताओ कि वह मतिज्ञानादिक जिसका आवरण बतला रहे हो वह सत् है या असत् है ? याने सद्भूत मतिज्ञानका आवरण बतला रहे हो या असद्भूत मतिज्ञानका आवरण बतला रहे हो ? यदि सत् मतिज्ञानका आवरण करते हो तो जब मतिज्ञान सत् है, उसने आत्मस्वरूप पा लिया है तो उसका आवरण नहीं बन सकता, और यदि कहा जाय कि मतिज्ञान असत् है जिसका आवरण बतला रहे हैं तो जब कुछ है ही नहीं तो आवरण किसका किया जायगा ? इस तरह आवरण सिद्ध नहीं होते । जैसे गधेका सींग असत् है तो उसके बारेमें कोई कहे कि उसको कपड़ेसे ढाँक दो तो भला बताओ कपड़ा किसमें ढाँका जायगा ? सींग तो है ही नहीं । तो ऐसे ही मतिज्ञान अगर सत् है तो उसका आवरण नही हो सकता । अगर सत् है तो उसके आवरणका अभाव है । इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह शंका यों न करना चाहिए कि नयदृष्टिसे इसका समाधान मिलता है । याने मतिज्ञान कथंचित सत् है, उसका आवरण है मतिज्ञान कथञ्चित असत् है, उसका आवरण है । ऐसी ही सब ज्ञानोंमें बात लगाना । वह किस तरह ? द्रव्यार्थिकनयसे देखा जाय तो वे मतिज्ञानादिक सत् हैं, उनका आवरण है । यह नय तो एक जीवको देखता है और जीवद्रव्यमें ये सारी शक्तियाँ हैं । तो उस द्रव्यदृष्टिसे तो सत् हुआ और जब पर्यायदृष्टिसे देखते हैं तो उस समय मतिज्ञान है ही नहीं इसलिए असत् हुआ । तो इस प्रकार कथञ्चित सत् और कथंचित असत् मतिज्ञानका आवरण होता है । ऐसा ही सभी ज्ञानोंमें समझना । यदि यह कहा जाय कि एकान्त रूपसे सत् ही हो तब आवरण बनता है याने मतिज्ञान है ही, उसका आवरण है ऐसा माननेपर तो फिर मतिज्ञान क्षायोपशमिक भी न कहलायगा, क्योंकि वह तो है, और जो है सो पूरा है । यदि कहा जाय कि एकान्ततः मतिज्ञान असत् है, है ही नहीं, उसका आवरण होता है तो ऐसा माननेपर भी मतिज्ञानका क्षयोपशम न कहलायगा, क्योंकि वह असत् है । जो असत् है उसकी तारीफ क्या की जा सकती है ?

(२५२) **कुछ उदाहरणों द्वारा मतिज्ञान आदिके आवरणमें आवरणत्वका समर्थन**––अथवा यही मान लीजिए कि मतिज्ञानादिक सत् हैं और उनका आवरण है तो क्या सत्का आवरण नहीं देखा जाता ? आकाश सत् है और उसका मेघपटल आदिकके द्वारा आवरण देखा जाता है तो सत्का भी तो आवरण हो सकता है । तो यों यहां समझ लीजिए कि मतिज्ञानादिक सत् हैं और उनका आवरण है । आवरण होनेसे प्रकट नहीं हो सकता । सो यह बात पर्यायदृष्टिसे बताया ही है कि वे सब सत् हैं और उनका आवरण होनेसे वे पर्यायरूपमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकट नहीं हैं। अब दूसरी बात देखिये जैसे प्रत्याख्यान अर्थात् संयम त्याग ये कोई प्रत्यक्षीभूत तो नहीं हैं कि लो यह कहलाता है त्याग। तो प्रत्याख्यान नामका कोई पर्याय प्रत्यक्षभूत नहीं है, जिसके आवरणसे प्रत्याख्यानावरण नाम पड़ा, किन्तु है क्या कि प्रत्याख्यानावरण होता है प्रकृतिके सानिध्यसे। उसके उदयसे आत्मा प्रत्याख्यानरूप पर्यायसे उत्पन्न नहीं हो सकता, याने नियमका घात करने वाले कर्मोंके उदयसे आत्मा संयम पर्यायमें नहीं आ सकता। तो यही तो कहलाया ना प्रत्याख्यानका आवरण। इसी प्रकार ज्ञानमें भी घटा लीजिए। मति आदिक ज्ञान कोई भी यों प्रत्यक्षभूत नहीं हैं, जैसे कि चूल्हा, खम्भा आदिक प्रत्यक्षभूत होते हैं सो ये मतिज्ञानादिक प्रत्यक्षभूत तो नहीं हैं जिसके आवरणसे मतिज्ञानावरणमें आवरणपना हो, किन्तु तथ्य यह है कि मतिज्ञानावरणके सान्निध्यमें अर्थात् इस प्रकृति के उदयमें आत्मा मतिज्ञान पर्यायसे उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए मतिज्ञानावरणमें आवरणपना है, सो पर्यायरूपमें प्रकट नहीं है और परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो वह असत् है। वह अवस्था अभी है ही नहीं। सो कथंचित् सत् और कथंचित् असत् मतिज्ञानादिकके आवरण सिद्ध होते हैं।

(२५३) **अभव्य जीवके मनःपर्ययज्ञानावरण व केवलज्ञानावरणकी अनुपपत्तिकी आशंका**—यहाँ शंकाकार कहता है कि जो अभव्य जीव हैं उनके मन:पर्ययज्ञान और केवल ज्ञान इनका सामर्थ्य है या नहीं? यदि कहा जाय कि मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानकी शक्ति भी अभव्यमें है तो फिर वह अभव्य नहीं कहला सकता। और यदि कहा जाय कि अभव्य में इन दोनों ज्ञानोंका सामर्थ्य नहीं है तो फिर उनका आवरण मानना ही व्यर्थ है और इस तरह फिर ज्ञानावरण तीन ही कहे जाना चाहिए। मन:पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये कुछ न रहे, क्योंकि मन:पर्ययज्ञान अभव्यमें है ही नहीं, सामर्थ्य भी नहीं, केवलज्ञानकी भी शक्ति नहीं। तो अभव्य जीवमें तीन आवरण कहे जायेंगे, अंतिम दो आवरण नहीं क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि मन:पर्यय ज्ञान भव्य जीवोंके ही हो सकता है, केवलज्ञान भी भव्य जीवके ही होता है। हाँ मति, श्रुत, अवधि ये भव्यके भी हो सकते हैं और अभव्यके भी हो सकते हैं। अभव्यमें होंगे तो ये तीन विपर्ययज्ञान कहलायेंगे— (१) कुमति, (२) कुश्रुत और (३) कुअवधि। भव्यके होगे तो यदि वह सम्यग्दृष्टि है तो ये तीन ज्ञान सम्यक् कहलायेंगे और यदि वह मिथ्यादृष्टि है तो उसके ये तीनों ज्ञान विपर्यय कहलायेंगे, किन्तु मन:पर्ययज्ञान केवलज्ञान ये तो भव्यके ही होते हैं अभव्यके नहीं। तो जब इसकी सामर्थ्य भी नहीं अभव्यमें है तो इसके आवरणकी कल्पना करना व्यर्थ है।

(२५४) **अभव्य जीवके मनः पर्ययज्ञानावरण व केवलज्ञानावरणकी उपपत्ति बताते**

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हुए उक्त शंकाका समाधान—उक्त शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि नय दृष्टिसे समझनेपर यह शंका न रहेगी। जब द्रव्यार्थदृष्टिसे देखते हैं तो मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान सत् हैं और उनका आवरण है। जब द्रव्यार्थदृष्टि व देखते हैं तो मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये असत् हैं। यहाँ यह भी शंका न करना कि यदि द्रव्यार्थदृष्टिसे सब जीवोंमें अभव्यके भी मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान है ऐसा माना जाय तो अभव्य जीव अभव्य न रहा, वह भव्य ही बन गया। यह शंका यों न करना कि भव्य और अभव्यपना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी शक्ति होने या न होनेके आधारपर नहीं है, अर्थात् जिस जीवमें सम्यग्दर्शनकी शक्ति हो वह भव्य है, जिसमें सम्यग्दर्शनकी शक्ति न हो वह अभव्य है। यह सिद्धान्त नहीं है, किन्तु सिद्धान्त यह है कि सम्यक्त्वादिककी प्रकटताकी योग्यता जिसमें है वह भव्य है और सम्यक्त्वादिक प्रकट करनेकी योग्यता जिसमें नहीं है वह अभव्य है। जैसे स्वर्णपाषाण और अंधपाषाण, इनमें ऐसा न लखना चाहिए कि जिसमें स्वर्णत्व शक्ति न हो वह स्वर्ण नहीं, किन्तु यह सिद्धान्त निरखना चाहिए कि जिस पाषाणमें स्वर्णपना प्रकट होनेकी योग्यता हो वह तो है सही स्वर्ण पाषाण और जिस पाषाणमें स्वर्णपनेकी शक्ति तो है पर स्वर्णत्व शक्तिकी प्रकटताकी योग्यता नहीं है उसे कहते हैं अंधपाषाण। दूसरा दृष्टान्त लीजिए—जैसे सही मूँग और कुरड़ू मूंग। मूंगके दानोंमें कुछ दाने ऐसे होते हैं कि उन्हें कितने ही घंटे लगातार पकाया जाय फिर भी वे सीझेंगे नहीं, ज्योंके त्यों पत्थरकी तरह रहेंगे। तो वहाँ अगर जातिकी अपेक्षा देखा जाय तो दोनों मूँग एक समान हैं, पर पकनेकी प्रकटताकी योग्यतासे देखा जाय तो सही मूंग दालके काम आती है और कुरड़ू मूंग अयोग्य है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदिककी शक्तिकी अपेक्षा देखा जाय तो भव्य अभव्य सब जीव द्रव्यार्थिक दृष्टिसे समान हैं किन्तु सम्यग्दर्शनकी प्रकटताकी योग्यताके ध्यानसे देखा जाय तो भव्य जीव तो सम्यग्दर्शन प्रकट करनेकी योग्यता रखते हैं किन्तु अभव्य जीव नहीं। तो यों शक्तिकी दृष्टिसे द्रव्यार्थनयसे वहाँ मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति है। वह शक्ति जिस आवरणके उदयसे प्रकट नहीं होती है उसे मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कहते हैं।

(२५५) **ज्ञानावरणके उदयमें होने वाले क्लेशोंका दिग्दर्शन कराते हुए ज्ञानावरणकी उत्तर प्रकृतियोंके प्रकरणका उपसंहार**—ज्ञानावरणके उदयसे ज्ञानका सामर्थ्य रुक जाता है, स्मृति लुप्त हो जाती है, धर्म सुननेमें उत्सुकता नहीं रहती है और ऐसा जीव अज्ञानकृत और अपमानकृत बहुत दुःखोंको भोगता है। अज्ञानकृत दुःख तो यह है कि जब दूसरे ज्ञानियोंको देखता है तो अपनेमें दुःख अनुभव करता कि मुझे कुछ ज्ञान न हुआ, मैं मूढ़ ही रहा। अपमानका दुःख मानता, इस प्रकार जब ज्ञानियोंकी गोष्ठी होती हो, उसमें यह भी बैठ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जायगा तो ज्ञानी तो चर्चा करेगा, उसकी ओर लोग दृष्टि देंगे तो यह अपना अपमान महसूस करता है। इस प्रकार ज्ञानावरणकी उत्तर प्रकृतियोंके भेद कहा, अब दर्शनावरणकी उत्तर प्रकृतियां कहना चाहिए, सो सूत्रमें कहते हैं।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥८-७॥

(२५६) दर्शनावरणकी उत्तर प्रकृतियोमें चार आवरण वाली उत्तरप्रकृतियोंका निर्देश—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल इन चार दर्शनोंके तो आवरण तथा निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि, ये ५ स्वतंत्र ऐसी दर्शनावरणकर्मकी ९ उत्तर प्रकृतियां हैं। इस सूत्रमें ४ भेदका पद अलग दिया है और ५ भेदका पद अलग दिया है। सो प्रथम चार भेदके प्रत्येक नाममें दर्शनावरणका सम्बन्ध जुड़ना चाहिए। तब उनके नाम हुए चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण। चक्षुदर्शनावरणके उदयमें यह जीव चक्षुइन्द्रिय द्वारा प्रतिभास नहीं कर सकता। जिनके चक्षुदर्शनावरण का उदय है उनको चक्षुइन्द्रिय ही प्राप्त न होगी, फिर चक्षु द्वारा प्रतिभास कहांसे हो? चक्षुदर्शन चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञानसे पहले होता है और उस चक्षुदर्शनका कार्य चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञानके लिए शक्ति प्रदान करना है। अचक्षुदर्शन चक्षुइन्द्रियको छोड़कर शेष चार इन्द्रिय और मनसे होने वाले सामान्य प्रतिभासको कहते हैं। अथवा स्पर्शन, रसना, घ्राण कर्ण और मनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानसे पहले जो सामान्य प्रतिभास होता है, जो आत्मस्पर्श होता है जिसके द्वारा ज्ञानकी शक्ति प्रकट होती है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं। इस दर्शनका जो आवरण करे उसे अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं। अवधिदर्शन—अवधिज्ञानसे पहले होने वाले आत्मस्पर्शको, सामान्य प्रतिभासको अवधिदर्शन कहते हैं। उस अवधिदर्शनका जो आवरण करे उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं। केवलदर्शनावरण—केवलदर्शनका आवरण करने वाले कर्मको केवलदर्शनावरण कहते हैं। केवलदर्शन केवलज्ञानके साथ साथ ही होता है। केवलज्ञानसे त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको जाना और समस्त पदार्थोंका जाननहार अर्थात् जहाँ सर्वज्ञेयाकार झलक रहे हैं ऐसे आत्माका दर्शन करने वाला केवलदर्शन होता है। इस केवलदर्शनका जो आवरण करे सो केवल दर्शनावरण है। जैसे केवलज्ञानावरणके उदयमें केवलज्ञान रंच भी नहीं हो सकता, ऐसे ही केवलदर्शनावरणके उदयमें केवल दर्शन कभी नहीं हो सकता।

(२५७) निद्रादिक पांच निद्रासम्बन्धित दर्शनावरणोंका निर्देश—निद्रा, मद अथवा परिश्रमको हरनेके लिए, दूर करनेके लिए जो शयन होता है उसे निद्रा कहते हैं। निद्रा शब्द

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

में नि तो उपसर्ग है, द्रा धातु है जिसका अर्थ है कुत्सक्रिया अर्थात् बेसुध जैसी क्रिया। जिस दर्शनावरणके उदयसे आत्मा निद्रित होता है उसे निद्रा दर्शनावरण कहते हैं। निद्रानिद्रा—निद्राके ऊपर फिर बार बार निद्रा आना निद्रानिद्रा कहलाता है। जैसे कुछ नींद समाप्त ही हो रही हो या किसीने जगा दिया है उसके बाद भी फिर नींद आ जाना, निद्रापर निद्रा आनेको निद्रानिद्रा कहते हैं। ऐसी स्थिति जिस कर्मके उदयसे हो उसे निद्रानिद्रादर्शनावरण कहते हैं। प्रचला—जो क्रिया आत्माको प्रचलित करे उसे प्रचला कहते हैं। प्रचला शोक, परिश्रम, मद आदिकसे उत्पन्न होता है। प्रचलामें बैठे ही बैठे शरीर और नेत्रादिकमें विकार उत्पन्न करने वाली नींद सी होती है जिसमें इन्द्रियका व्यापार तो नहीं होता फिर भी अंग चलते रहते हैं, ऐसी प्रचला जिस दर्शनावरण कर्मके उदयसे हो उसे प्रचलादर्शनावरण कहते हैं। प्रचला-प्रचला—वही प्रचला बार बार होती रहे उसे प्रचलाप्रचला कहते हैं। ऐसी प्रचलाप्रचला जिस दर्शनावरण कर्मके उदयसे हो उसे प्रचलाप्रचलादर्शनावरण कहते हैं। स्त्यानगृद्धि—स्त्यानमें गृद्धि होना स्त्यानगृद्धि है अर्थात् स्वप्नमें कोई अतिशयकारी बलयुक्त कार्य करना स्त्यानगृद्धि है। जैसे दर्शनावरणके उदयसे स्वप्नमें ही रौद्र कर्म कर लिया जाय या बुरा कर्म कर लिया जाय तो वह स्त्यानगृद्धि है। स्त्यानगृद्धि जिसे होती हो वह पुरुष स्वप्नमें भी बड़े काम कर लेता है, पर जगनेपर उसे ख्याल नहीं रहता कि मैंने क्या किया था।

(२५८) **निद्रानिद्रा व प्रचलाप्रचलामें वीप्सार्थक द्वित्वकी सिद्धि**—यहाँ एक शंका होती है कि निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला इन दो भेदोंमें जो एक शब्दका दो बार प्रयोग किया है सो दुबारा प्रयोग करना वहाँ सम्भव है जहाँ उसका नाना आधार बना हो, पर यह सब तो एक ही आत्मामें हो रहा है। तो जब नाना अधिकरण नहीं हैं तो वीप्सा अर्थात् दुबारा कहना युक्त नहीं बैठता। तब निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला ये दो भेद उचित नहीं विदित होते। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि वीप्साका यह नियम नहीं है कि वह नाना अधिकरणोंमें रहे। प्रथम बात तो यह है। अभीक्ष्ण अर्थमें याने निरंतर करनेके अर्थमें द्वित्व प्रसिद्ध होता है और वीप्सा भी बन सकती है। यों एक ही आत्मामें निद्राके दो बार अनेक बार आनेसे वीप्साका अर्थ बन जाता है। दूसरी बात यह है कि काल आदिकके भेदसे अधिकरण भी भिन्न सिद्ध हो जाता है। जैसे कोई एक ही बालक गत वर्ष सेकेण्ड डिवीजनमें पास हुआ था और इस वर्ष फर्स्ट डिवीजन और फर्स्ट पोजीशनमें पास हुआ तो उसे लोग कहते हैं कि यह बालक गत वर्ष तो चतुर था, पर इस वर्ष अत्यंत चतुर है। तो एक ही बालकमें दो अधिकरण मान लिया और वहाँ दो का प्रयोग किया गया। कभी देशकृत दृष्टिसे भी दो का प्रयोग होता है। जैसे पहले अपने गांवमें कोई रहता था तो साधारण था, अब वह पासके शहरमें पहुंच गया,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

व्यवसाय चल गया तो वह सम्पन्न हो गया तब उससे लोग कहते हैं कि जो तुम गांवमें थे सो न रहे, अब तुम दूसरे हो गए, सम्पन्न हो गए। तो यों विवक्षावश एक ही वस्तुमें नाना अधिकरण जैसा प्रयोग होता है। ऐसे ही एक जीवमें भी कालादिकके भेदसे निद्रानिद्राका नानाधिकरणत्व सिद्ध हो सकता है तथा एक ही आधारमें निद्राक्रियाका द्वित्व घटनावश बन जाता है। अतः निद्रानिद्रा व प्रचलाप्रचलामें वीप्सार्थक द्वित्व कहनेमें कुछ भी विशेष नहीं है।

(२५९) **निद्रामें साता असातामें से सातावेदनीयके उदयकी प्रधानता**—दर्शनावरण कर्मके भेदोंमें जो निद्रा नामक प्रकृति है उस निद्रा दर्शनावरण कर्म और साता वेदनीयका उदय होनेसे निद्रा परिणाम बनता है। निद्रा आनेमें लोग सुखका अनुभव करते हैं। जैसे किसीको नींद नहीं आती तो वह चिकित्सा कराकर उपाय बनाकर नींद लेना चाहता है। तो यद्यपि निद्रा दर्शनावरणके उदयमें आत्माका दर्शन नहीं होता, वस्तुका दर्शन नहीं होता तो भी वहाँ श्रम, शोक दूर होता हुआ देखा जाता है। तो स्पष्ट वहां साता वेदनीयका उदय है। हाँ उसके साथ असातावेदनीयका भी आगे पीछे मंद उदय चलता रहता है। इसी प्रकार शेष चार निद्रावोंका भी यही ढंग है। इस सूत्रमें ५ निद्रावोंका द्वन्द्व समास किया गया है और उनके साथ दर्शनावरणका सम्बंध जोड़ा गया है।

(२६०) **दर्शनावरणकी उत्तरप्रकृतियोंका लक्षण व प्रभाव**—इस सूत्रमें जो दर्शनावरणके भेद कहे गए हैं उनको दो पदोंमें रखो। प्रथम पदमें षष्ठी विभक्ति है जिसमें दर्शनावरणका भेद रूपसे निर्देश होता है। द्वितीय पदमें प्रथमा विभक्ति है, सो समान रूपसे, भेद रूपसे दर्शनावरणका सम्बन्ध होता है, जैसे चक्षुदर्शनका आवरण। इस ढंगसे तो चार दर्शनोंका आवरण कहा जाता है और निद्रारूप दर्शनावरण आदिमें अभेदरूप दर्शनावरण लिया गया है। जिस समय जीवके चक्षुर्दर्शनावरणका उदय है उस समय चक्षु इन्द्रिय द्वारा वह सामान्य प्रतिभास नहीं कर पाता अर्थात् चक्षुइन्द्रियसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानसे पहले जो प्रतिभास होता है वह नहीं हो पाता। इसी प्रकार अचक्षुर्दर्शनावरणके उदयसे शेष ४ इन्द्रिय और मन द्वारा सामान्यप्रतिभास नहीं हो पाता है। उसपर इन दर्शनावरणोंका असर होता है, अर्थात् निमित्तनैमित्तिक भावके रूपसे इस दर्शनावरणके उदयके सान्निध्यमें इसका निमित्त पाकर जीव दर्शनगुण प्रकट नही कर पाता। अवधिदर्शनावरणके उदयसे अवधिदर्शन नही होता और केवलदर्शनावरणके उदयसे केवलदर्शन नहीं होता। निद्रारूप दशा तो एक अंधकार अवस्था जैसी है, क्योंकि नींद आनेपर उसके इन्द्रियका व्यापार बंद हो जाता। न कुछ छूता है, न चखता है, न सूंघता है, न देखता है और न सुनता है, पर निद्रानिद्रा दर्शनावरणके उदयसे महान् अंधकार जैसी अवस्था हो जाती है, क्योंकि इसमें इतनी गाढ़ निद्रा है कि बहु त

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तेज जगाया जानेपर भी सोये हुए पुरुषको हिलाकर जगानेपर भी मुश्किलसे जगता है। प्रचला दर्शनावरणके उदयसे तो कुछ अंगोंका प्रचलन होता है। घूरना, नेत्रका व शरीरके अंगका चलना। जैसे किसीकी आँखें खुली रहती हैं और वह नींद लेता रहता है तो उस समय उसे दिखता कुछ नहीं है, आँखें भर खुली हैं। कैसी विकट अवस्था है कि आँखें पूरी खुली हैं और उसे दिखता नहीं है। प्रायः करके नींद आँख बंद की हालतमें रहती है, पर किसी किसी के यह दशा पायी जाती है तो भी वहाँ दर्शन कुछ नहीं होता। प्रचलाप्रचला दर्शनावरणके उदयसे यह जीव बहुत अधिक ऊँघता है और किसी तीक्ष्ण वस्तुसे कुछ शरीर भी छिद जाय तो भी वह कुछ नहीं देख पाता। ऐसा तीव्र दर्शनका आवरण है। इस प्रकार दर्शनावरण कर्मकी उत्तरप्रकृतियोंको बताकर अब तृतीय नम्बरमें पुरुष वेदनीय कर्मके भेदों को बतलाते हैं।

सदसद्वेद्ये ॥८-८॥

(२६१) **सातावेदनीयकी उत्तरप्रकृतियोंका विवरण**—सातावेदनीय और असातावेदनीय ऐसी दो उत्तरप्रकृतियाँ वेदनीय कर्मकी हैं, जिनके उदयसे देवादिक गतियोंमें जहाँ कि बहुत प्रकारके सांसारिक आराम हैं, शारीरिक मानसिक सुखोंकी प्राप्ति हो, उसे सातावेदनीय कहते हैं। सद्वेद्य शब्दमें सत् और वेद्य ऐसे दो विभाग हैं। सत् मायने भला, शुभ, प्रशस्त, इष्ट है तथा वेद्यका अर्थ अनुभव करने योग्य है। सातावेदनीयके उदयसे दो कार्य होते हैं—एक तो इष्ट वस्तुवोंकी प्राप्ति होना और दूसरा—इन्द्रिय द्वारा सुख रूपसे अनुभव बनना। जिस कर्मके उदयसे अनेक प्रकारके दुःख हों, नारकादिक गतियोंमें जैसे शारीरिक मानसिक नाना दुःख पाये जाते हैं ऐसे कठिन दुःख होना, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, शरीरकी व्याधियों का होना, दूसरेके द्वारा वध होना, पीटा जाना, बंधन होना, जन्म, जरा, मरण होना ये दुःख जिसके फल हैं वह सब असातावेदनीय है। असद्वेद्यमें दो भाग हैं—(१) असत् और (२) वेद्य। असत्का अर्थ है अशुभ, अप्रशस्त, अनिष्ट और वेद्यका अर्थ है वेदनमें आना। असाता वेदनीयके उदयसे अनिष्ट दुःखके हेतुभूत पदार्थ और घटनाओंका संयोग होता है। और इन्द्रिय द्वारा असाता रूपसे वेदन होता है। इस प्रकार वेदनीय कर्मकी दो उत्तर प्रकृतियोंका वर्णन हुआ, अब क्रम प्राप्त मोहनीयके २८ भेदोंका वर्णन करते हैं।

दर्शनचारित्रमोहनीयाऽकषायकषाय वेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषाया हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविक-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ल्पाश्चैकशः क्रोधमानमाया लोभाः ॥८-९॥

(२६२) **मोहनीयकर्मके मूलभेदरूप दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीयमें से दर्शनमोहनीयके प्रकारोंका विवरण**—मोहनीय कर्मके मूल भेद दो हैं—(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके उदयसे तो जीवको तत्त्वार्थका सत्य श्रद्धान नहीं हो पाता और अतत्त्व श्रद्धानमें ही बना रहता है। इस दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं—(१) सम्यक्त्व (२) मिथ्यात्व और (३) सम्यग्मिथ्यात्व। इन तीनोंमें मूल आधार प्रकृति है मिथ्यात्व, क्योंकि बन्ध केवल मिथ्यात्वका होता है। सम्यक्त्वप्रकृति और मिश्र प्रकृतिका बन्ध नहीं होता फिर उनकी सत्ता कैसे हो जाती है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जब अनन्तानुबन्धी ४ और मिथ्यात्वप्रकृतिके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है तो उपशम सम्यक्त्व होनेके प्रथम क्षणमें ही मिथ्यात्व प्रकृति दलित हो जाती है। इस समय मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय तो नहीं है क्योंकि उपशम सम्यक्त्वका अभ्युदय हुआ है, लेकिन सत्तामें है। तो उस सत्तामें ही रहने वाली मिथ्यात्वप्रकृतिका दलन होता है जिससे कि अधिक दलित मिथ्यात्व प्रकृतिकी कर्मवर्गणायें सम्यक्त्वप्रकृतिरूप बन जाती हैं। इस सम्यक्त्व प्रकृतिका जब उदय हो तो सम्यक्त्व तो नाश नहीं हो पाता किन्तु सम्यक्त्वमें दोष लगता रहता है, जिन्हें चल, मलिन और अगाढ़ कहते हैं। यह पहला सूक्ष्म दोष है। सम्यक् प्रकृतिका उदय क्षयोपशम सम्यक्त्व की स्थितिमें मिलेगा। जहां अनन्तानुबन्धी ४ प्रकृतियोंका और मिथ्यात्व प्रकृतिका तथा मिश्र प्रकृतिका उदयाभावी क्षय हुआ और सूक्ष्म प्रकृतियाँ जो सत्तामें स्थित हैं, जिनका उदय आगे आयगा उनका उपशम हो, ऐसी स्थितिके साथ सम्यक्प्रकृतिका उदय हो तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। तो इस सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्वका घात तो नहीं है किन्तु सम्यक्त्वमें सूक्ष्म दोष लगते रहते हैं। सम्यक्त्व प्रकृतिका कार्य सम्यग्दर्शन नहीं किन्तु सम्यक्त्वमें दोष लगाना है। मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जीवके मिथ्यादर्शन रहता है। शरीरको जीवको एक मानना विकारमें स्वभावमें अन्तर न समझ पाना, अहंकार, ममकार, कर्तृत्वबुद्धि तथा भोक्तृत्व बुद्धि होना, ऐसे अटपटभाव मिथ्यादर्शन कहलाते हैं। मिश्र प्रकृतिके उदयमें इस जीवके मिश्र परिणाम होता है, अर्थात् जिसे न तो केवल सम्यक्त्वरूप कहा जा सकता है और न केवल मिथ्यात्वरूप कहा जा सकता, किन्तु जात्यंतर जैसी दशा होती है। कोई दही गुड़को मिलाकर खाये या दही शक्कर मिलाकर खाये तो उसमें स्वाद न केवल दही का मिल सकेगा न केवल मीठेका मिल सकेगा, किन्तु कोई तीसरा ही स्वाद हो जाता है। ऐसा मिश्र प्रकृतिका जहां उदय है वहां अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व का उदयाभावी क्षय है और उपशम है और ऐसे ही यदि सम्यक्प्रकृति सत्तामें है तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उसका भी उपशमन रहता है। इस प्रकार दर्शनमोहनीयके तीन भेदोंका वर्णन हुआ।

(२६३) चारित्रमोहनीयके भेद अकषायवेदनीय व कषायवेदनीयमेंसे अकषायवेदनीयके प्रकारोंमें हास्य, रति, अरति, शोकका निर्देशन—अब मोहनीयके मूल भेदोंमें जो चारित्र मोहनीय है, जिसके उदयसे आत्माके चारित्रगुणका विकास नहीं हो पाता उस चारित्र मोहनीयके दो भेद कहे गये हैं— (१) अकषाय वेदनीय और (२) कषाय वेदनीय। जिसके सीधे नाम हैं नोकषाय और कषाय। नोकषायके ९ भेद हैं—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्रीवेद, (८) पुरुषवेद, (९) नपुंसकवेद। हास्य प्रकृतिके उदयसे हँसीका आविर्भाव होता है। हँसना, मजाक करना, भीतर रोषके कारण दिल्लगी करके खुश होना यह सब हास्यकी घटना है। रति प्रकृतिके उदयसे इष्ट देश, काल, द्रव्यमें उत्सुकता रहती है। प्रीतिका परिणाम बनता है, उसकी ओर खिचाव रहता है। अरति प्रकृतिके उदयसे देश आदिकमें, पदार्थोंमें अनुत्सुकता अप्रीतिका भाव रहता है जिससे कि उससे हटनेका भीतरमें भाव बना रहता है। शोक प्रकृतिके उदयमें रंजका परिणाम होता है। किसी भी घटनाको चित्तमें लेकर उसके लाभ अलाभके सम्बंधको सोचकर शोक बना रहता है।

(२६४) भयप्रकृतिनामक कषायवेदनीय मोहनीयकर्मके अनुभागका वर्णन—भयप्रकृतिके उदयसे ७ प्रकारका भय उत्पन्न होता है। इस लोकमें इस पर्यायमें मेरा गुजारा कैसे होगा, कभी कोई आपत्ति न आवे आदिक बातोंको विचार विचार कर इस लोकका भय बना रहता है। ये भय अनेक प्रकारके हैं, जिनका परिचय साधारणतया सभी मनुष्योंको है। कितने प्रकारके भय इस चित्तमें बसे रहते हैं? किसीको थोड़ा बहुत परलोक सम्बंधी बात करनी आती है तो वह परलोकका भय बनाये रहता है। पता नहीं कैसा मुझे जन्म मिलेगा, कहीं मेरी खोंटी दशा न हो, दरिद्र न बनूं आदिक अनेक प्रकारके भय होते हैं। शरीरकी व्याधिका भय बना रहता है। शरीरमें कभी रोग न हो, अगर रोग होता है तो घबड़ाते कि हाय अब क्या होगा, मरण हो जायगा, कैसे बात बनेगी, आदिक अनेक भय भय प्रकृतिके उदयमें चलते हैं। एक भय अगुप्तिका होता है। मकान खुला है, किवाड़ोंका अच्छा प्रबंध नहीं है। कहीं किवाड़ लगे नहीं हैं, कहीं लगे भी हैं, किवाड़ तो अत्यंत जीर्ण शीर्ण हालतमें हैं। ऐसी हालतमें मैं कैसे सुरक्षित रह सकूंगा, ऐसा भय भय प्रकृतिके उदयमें चलता है। एक भय अरक्षाका रहता है। मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं है, किसीकी मुझपर भली-भाँति छाया नहीं है, मेरे मकान आदिक भी ढंगसे नहीं हैं आदिक अरक्षा सम्बन्धी भय भयप्रकृतिके उदयमें चलते हैं। एक भय मरणका भी होता है। मरणसे प्रायः सभी जीव डरते हैं। जिसको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अपने आत्माके स्वतंत्र स्वरूपास्तित्वकी श्रद्धा नहीं है वह मरणभयसे बड़ा व्याकुल रहता है। यद्यपि मरण होने पर जीवका कुछ बिगड़ता नहीं है। जो जीव अपनी सत्तामें है वह अपनी पूरी सत्ता लिए हुए अपनी सर्वगुणसमृद्धिमें रहता हुआ इस शरीरमें न रहकर अगले शरीर में रहनेके लिए जाता है और नवीन शरीरमें रहता है। तो मरणसे बात भली होने वाली है। एक जीर्ण शीर्ण शरीरको छोड़कर किसी नवीन शरीरमें पहुंचने वाली खुशी वाली बात है, किन्तु जिनको अपने अस्तित्वका परिचय नहीं है उनको मरणका भय बना रहता है। एक भय आकस्मिक होता है—अटपटभय। किसी भी घटनाकी कल्पना करके, कहीं ऐसा न हो बैठे, ऐसे अनेक भय लगाये रहते हैं। तो भय प्रकृतिके उदयमें इस जीवके भय होता है।

(२६५) **जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद प्रकृति नामक अकषायवेदनीयमोहनीय कर्मके प्रकारोंका निर्देशन**— जुगुप्सा ग्लानिको कहते हैं। मन खराब हो जाना, अधीर हो जाना, ये सब जुगुप्साकी प्रकृतियाँ हैं। जुगुप्सा प्रकृतिके उदयसे जुगुप्साके भाव होते हैं। जुगुप्साका पर्यायवाची शब्द कुत्सा हो सकता है, मगर यह जुगुप्साके भावको पूरा नहीं बता पाता। अपने दोषोंका सम्वरण करना, दोषोंको ढाँकना ऐसी मूलमें बात तो जुगुप्साकी होती है, किन्तु कुत्सामें दूसरेके कुल शील आदिकके दोषोंको बतानेका भाव और उनमें दोष हों तो उससे एक क्षुब्ध होनेका भाव होता है। स्त्रीवेद नामकर्मके उदयसे स्त्रियोंके जैसे भाव उत्पन्न होते हैं। पुरुषकी कामना करना, नेत्र विभ्रम करना, कामके आवेशमें रहना, इन भावोंको प्राप्त होता है और यह ही भाव स्त्रीवेद कहलाता है। जब स्त्रीवेदका उदय होता है तब पुरुषवेद नपुंसकवेद सत्तामें रहते हैं। स्त्रीका जो शरीर है उसकी रचना तो नामकर्मके उदयसे होती है। पर स्त्रीवेदके उदयसे स्त्रीके सम्भवभाव हुआ करते हैं। और इसी कारण कोई शरीरसे पुरुष हो उसके भी स्त्रीवेदका उदय सम्भव है, इसी प्रकार शरीरसे कोई स्त्री हो तो उसके भी पुरुषवेदका उदय सम्भव है। पुरुषका शरीर भी नामकर्मके उदयसे बना हुआ है, और उसमें वेद विषयक भाव इस चारित्रमोहनीयके उदयसे होता है। पुरुषवेदके उदयसे जीव पुरुष सम्बंधी भावोंको प्राप्त होता है और नपुंसक वेदके उदयसे नपुंसकोंके भावको प्राप्त होता है। इस प्रकार नोकषायकी प्रकृतियोंका वर्णन हुआ।

(२६६) **कषायवेदनीय मोहनीयके सोलह प्रकारोंमें से क्रोधसम्बन्धित चार प्रकारोंका निर्देश**—अब चारित्रमोहनीयका दूसरा भेद है कषायवेदनीय। इसके १६ भेद होते हैं— अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोध रोषका नाम है। अपने या दूसरेके उपघात या अनुपकार आदिक करनेके क्रूर परिणाम क्रोध कहलाते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्रोधमें यह जीव अपना भी घात कर लेता है, दूसरेका भी घात करता, अपना भी बिगाड़ करता, दूसरेका भी बिगाड़ करता है। यह क्रोध चार प्रकारका है—–अनन्तानुबंधी क्रोध जो पत्थरपर छेदी गई रेखाके समान चिरकाल तक रहता है। इस क्रोधसे मिथ्यात्वका सम्बंध बना करता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध—–जैसे जोते गए खेतमें हलकी लकीर पड़ जाती है और कुछ ही महीनोंमें मिट जाती है ऐसे ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध ६ महीनेसे अधिक नहीं रह पाता। क्रोध तो कोई सा भी लगातार १० मिनट भी नहीं रह सकता। उसके बीचमें अन्य अन्य कषायें आती रहती हैं, पर इस क्रोधका संस्कार ६ महीनेसे अधिक नहीं चलता। हाँ अनन्तानुबन्धी क्रोधका संस्कार ६ माहसे अधिकको तो बात क्या, वह तो अनेक भवों तक चलता रहता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोधके उदयसे अणुव्रतके भाव नहीं हो पाते। प्रत्याख्यानावरण क्रोध–यह धूलीकी रेखाके समान है। इसका कुछ ही दिन रहना कठिन होता है। इस क्रोधमें महाव्रतका भाव नहीं हो पाता। संज्वलन क्रोध–यह क्रोध जलमें लाठीसे लकीर खींचने पर जैसे जलकी लकीर तुरंत ही विलीन हो जाती है ऐसे ही यह संज्वलन क्रोध अंतर्मुहूर्त ही रहता है। इससे अधिक इसका संस्कार भी नहीं रहता। इस क्रोधमें यथाख्यात-चारित्र नहीं होता।

(२६७) **कषायवेदनीयमोहनीयके १६ भेदोंमें से मानकषाय सम्बन्धित चार प्रकारोंका निर्देशन**—मानकषाय– जाति, कुल आदिकके घमंडसे दूसरेके प्रति नमन करनेका परिणाम न होना मान कषाय है। यह मान कषाय भी चार प्रकारका है। अनन्तानुबंधी मान—जैसे पत्थरका खम्भा अत्यन्त कठोर होता है, उसमें नमन रंच भी नहीं है, इस तरहका कठोर होना, नम्रता रंच न होना अनंतानुबंधी मान है। यह मान मिथ्यात्वको पुष्ट करने वाला है। अप्रत्याख्यानावरणमान—जैसे कि हड्डी पत्थरकी तरह कठोर नही है, उसमें कुछ नमने की योग्यता है, इसी प्रकार जो अत्यन्त कठोर नहीं, किन्तु उसके बादका कठोर हो वह अप्रत्याख्यानावरण मान है। इस कषायके उदयसे जीव अणुव्रत धारण नहीं कर सकता। प्रत्याख्यानावरणमान—जैसे लकड़ी हड्डीसे अधिक नम्र रहती है फिर भी कठोरता है इसी प्रकार जिसमें कुछ नम्रता आयी हो वह प्रत्याख्यानावरण मान कषाय है। इस कषायके उदयसे महाव्रत धारण नहीं किया सकता है। संज्वलनमान–जैसे लता अत्यन्त नम्र होती है फिर भी उसमें साधारण कठोरता है। उसकी तरह जहाँ अतीव कम कठोरता हो उसे संज्वलन मान कषाय कहते हैं। संज्वलन मान कषायके उदयसे यह जीव अपने सहज शुद्ध स्वरूपको विकसित नहीं कर सकता। यथाख्यात चारित्र नहींहो सकता।

(२६८) **कषायवेदनीयमोहनीयकी मायासम्बन्धित चार प्रकारोंका निर्देश**—माया

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कषाय–छल कपट करना माया है । यह माया भी ४ प्रकारकी है—(१) अनंतानुबंधी माया–मायाका स्वरूप टेढ़ेपनसे चलता है । मनमें और, वचनमें और, करे कुछ और, जहाँ ऐसी बक्रता है वही तो माया कषाय है । तो जो माया बाँसकी जड़की तरह है, गठीली रहे, बहुत बक्र रहे, वह अनन्तानुबंधी माया है । इसके उदयसे सम्यक्त्व प्रकट नहीं होता । अप्रत्याख्यानावरणमाया—जो माया अनन्तानुबंधीसे कम टेढ़ी हो, मेढ़ेके सींगकी तरह जहाँ टेढ़ापन पाया जाय उसे अप्रत्याख्यानावरण माया कहते हैं । इस कषायके उदयमें यह जीव अणु व्रत धारण नहीं कर सकता । (३) प्रत्याख्यानावरण माया—जो अप्रत्याख्यानावरणसे तो कम कुटिल है, फिर भी कुटिलता पायी जाती है । जैसे बैल मूतता हुआ जा रहा है तो उसके मूत्र की जैसी कुटिल रेखायें हैं इस प्रकारका जो कुटिल भाव है वह प्रत्याख्यानावरण माया है । इसके उदयसे यह जीव महाव्रत नहीं धारण कर सकता । (४) संज्वलनमाया—जिसमें अत्यंत कम कुटिलता है, लेखनी कलमके समान साधारण ही कुटिलता है वह संज्वलन माया है । इसके उदयमें यह जीव यथाख्यात चारित्र नहीं पाल सकता ।

(२६९) **कषायवेदनीयमोहनीयके सोलह भेदमें से अन्तिम लोभसम्बंधित चार प्रकारों का कथन**—लोभकषाय––लोभ, तृष्णा, आशा आदिक परिणामको कहते हैं । लोभकषायका इतना गहरा रंग है जीवपर कि यह प्रसिद्धि हो गई कि लोभ पापका बाप बखाना । सर्व पापोंमें प्रधान पाप लोभ है । जिसका संस्कार बड़ी कठिनाईसे छूटता है । यह लोभ भी चार प्रकारका है–(१) अनन्तानुबंधी लोभ—धन आदिककी तीव्र आकांक्षा, अत्यंत गृद्धि, विषयोंकी बड़ी आसक्ति होना, जिसका संस्कार जन्म जन्म तक रहता है वह अनन्तानुबन्धी लोभ है । जैसे किरमिची रंग कपड़ा फट जाय तो भी नहीं छूटता, ऐसे ही यह लोभकषाय भव भवमें इस जीवको परेशान करती है । इस अनन्तानुबंधी लोभके उदयमें जीवका मिथ्यात्वभाव पुष्ट होता रहता है । अनन्त नाम मिथ्यात्वका है । जो मिथ्यात्वका सम्बन्ध बनाये, पोषण करे सो अनंतानुबंधी है । (२) अप्रत्याख्यानावरणलोभ–जैसे काजलका दाग किरमिचीके रंगसे तो हल्का है, फिर भी यह बड़े प्रयत्नसे छूटता है, ऐसे ही अनन्तानुबंधी लोभसे तो गृद्धि कम है, फिर भी उतनी गृद्धि है कि जिसके कारण यह जीव अणुव्रत भी धारण नहीं कर सकता । (३) प्रत्याख्यानावरण लोभ––जैसे कीचड़का रंग कुछ जल्दी धुल सकता है ऐसे ही जो लोभकषाय १५ दिन तकका भी संस्कार बना सके उसे प्रत्याख्यानावरण लोभ कहते हैं । इसके उदयमें महाव्रतके परिणाम नहीं हो सकते हैं । (४) संज्वलन लोभ–यद्यपि संयमका विरोधी तो नहीं है । इतना कम लोभ है, फिर भी यथाख्यात चारित्र नहीं हो सकता । इसका दृष्टान्त है हल्दी का रंग । यह जल्दीसे छूट जाता है । संज्वलनकषायका संस्कार अन्तर्मुहूर्त ही रहता है । इस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रकारचारित्रमोहनीयका जो दूसरा भेद है कषायवेदनीय उसके १६ भेद कहे गए हैं। मोहनीयकी समस्त उत्तरप्रकृतियां मिलकर २८ हैं। सो यह सब मोहनीय कर्मका ही परिवार है। अब क्रम प्राप्त आयुकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंको कहते हैं।

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥८-१०॥

(२७०) **आयुकर्मका लक्षण व आयुकर्मके भेद**—नारकायु, तिर्यगायु, मानुषायु और देवायु, इस प्रकार आयु चार प्रकारकी उत्तर प्रकृतिरूप हैं। नरकभवमें जो होवे उसे नारक कहते हैं और नारककी आयुको नारक आयु कहते हैं। इस प्रकार शेष ३ गतियोंमें भी लेना। आयुका अर्थ है—जिसका सद्भाव होनेपर जीवन रहे और जिसका अभाव होनेपर मरण हो जाय उसे आयु कहते हैं। अर्थात् भव धारण कराये सो आयु है। यहाँ शंकाकार कहता है कि जीवनका कारण तो अन्नादिक है, फिर उसीको ही आयु समझ लेना चाहिए। अन्न आदिक का लाभ मिले तो जीवन रहता है, अन्नादिक न मिलें तो मरण हो जाता है। फिर आयुका क्या अर्थ रहा? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह संदेह यों न करना कि भवधारणका निमित्त तो आयु ही है और उस आयुकर्मका अनुग्राहक अन्नादिक है, जैसे मृत्पिण्डसे घड़ा बने, उसका अंतरंग कारण तो मृत्पिण्ड है, किन्तु उसका उपग्राहक दंड, चक्र आदिक हैं, इसी प्रकार भवधारणका अंतरंग कारण तो आयु ही है और अन्नादिक उसके उपग्राहक है। जब आयुका अभाव होता है, आयु क्षीण होने लगती है उस समय अन्नादिक कितने ही सामने रख दें तो क्या वे जीवित रख सकेंगे? उसका तो मरण ही देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि देव और नारकियोंमें तो अन्नादिक नहीं हैं, न उनका सेवन है, फिर भी उनका जीवन मरण है। तो अन्नादिकको जीवनमरणका कारण नहीं कह सकते। जो सभी आयुवोंमें घटित हो वह बात यहाँ समझनी चाहिये।

(२७१) **आयुके चार उत्तरप्रकृतिप्रकारोंका विवरण**—नरकायुके उदयसे जीवका नरकोंमें लम्बा जीवन होता है। वहाँ तीव्र शीत, उष्णकी वेदना हुआ करती है। उसके निमित्त से दीर्घ जीवन होता है। तो जो नरकभवको धारण कराये उसे नरकायु कहते हैं। तिर्यक् आयुके उदयसे क्षुधा, प्यास, ठंड, गर्मी, डांस, मच्छर आदिक जहाँ वेदनायें हैं ऐसे तिर्यंचभव में बसना होता है। जो तिर्यंचके भवको धारण कराये उसे तिर्यगायु कहते हैं। मनुष्यायुके उदयसे मनुष्यभवमें जन्म होता है। जहाँ शारीरिक मानसिक दुःख भी हैं, ऐसे मनुष्योंमें इस आयुके उदयमें जन्म होता है। देवायुके उदयसे देवगतिमें जन्म होता है। जहाँ प्रायः साधारण मानसिक सुख ही पड़े हुए हैं। प्रायः शब्द इसलिए लगाया है कि कहीं यह न समझें कि हर समय देवोंको पूरा सुख रहता है। देवोंकी जो देवियाँ हैं उनकी आयु बहुत कम होती है और

http://sahjanandvarnishastra.org/

एक देवके जीवनमें लाखों करोड़ों देवियां गुजर सकती हैं। उनका वियोग होता है, उससे भी उन्हें दुःख होता है। अपनेसे बड़ी ऋद्धि वाले देवोंकी सम्पन्नता, आज्ञा आदिक जब निरखते हैं तो उससे भी उन्हें कष्ट होता है। मरणका चिन्ह उनकी ही छातीपर बनी हुई प्राकृतिक मालाका मुरझा जाना है। तो जब उस मालाको मुरझाया हुआ देखते हैं तो उनको मानसिक दुःख होता है। तो सर्वथा सुख ही हो देवगतिमें यह बात नहीं है, किन्तु प्रायः करके सुखी रहा करते हैं। ऐसा इन चार आयुवोंका वर्णन किया। अब उस आयुके अनन्तर क्रम प्राप्त नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ बतलाते हैं।

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्तिसेतराणि तीर्थंकरत्वं च ॥ ८-११ ॥

(२७२) **नामकर्मकी पिण्डरूप व अपिण्डरूप ब्यालीस प्रकृतियोंमें से गतिनामकर्म व उसके प्रकारोंका वर्णन**—नामकर्मकी ४२ उत्तरप्रकृतियाँ बतलाते हैं जिनमें कुछ पिण्ड प्रकृतियाँ हैं और कुछ फुटकर प्रकृतियाँ हैं। उन प्रकृतियोंका इस सूत्रमें निर्देश किया गया है। प्रथम है गतिनामकर्म। जिसके उदयसे आत्मा अन्य भवको जाता है उसे गति कहते हैं। यद्यपि गति शब्दका अर्थ यही हुआ कि जाय सो गति, फिर भी रूढ़िके वशसे किसी गति विशेषमें इसका अर्थ लगता है, और किसी गतिमें जाना तो मरणके बाद ही होता है एक बार, फिर तो जब तक वह आयु रहती है तब तक गति बनी रहती है। सो कहीं ऐसा न जानना कि जब आत्मा न जाता हो तो वह गति न कहलाता होगा। गतिका भावार्थ है ऐसी आयु वाले भवमें जन्म लेना जहां उसके अनुरूप भाव बनता रहे। तो गतिनामकर्मके उदयसे उस उस गतिमें उस उस तरहके भाव होते हैं। यह गति नामकर्म ४ प्रकारका है— (१) नरकगति, (२) तिर्यञ्चगति, (३) मनुष्यगति, (४) देवगति। नरकगति नामकर्मके उदयसे आत्माके नरकगति जैसा भाव होता है, ऐसे ही समस्त गतियोंमें समझना। जैसे जिस जीवका मनुष्यगतिमें जन्म हुआ है तो उसका उठना, बैठना, खाना सब कुछ मनुष्यों जैसा ही चलेगा। तिर्यञ्चगतिमें जन्म हुआ है तो अब तिर्यंच जैसा ही चलेगा। मनुष्य घास खाना पसंद नहीं करते, तिर्यंचको घास बहुत बड़े मीठे व्यञ्जनकी तरह लगता। ऐसे ही अन्य व्यवहार तिर्यञ्चके तिर्यञ्चोंके साथ चलते हैं, मनुष्यके मनुष्योंके साथ चलते हैं।

(२७३) **जातिनामकर्म व उसके प्रकारोंका वर्णन**—जातिनामकर्म उन नारकादि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गतियोंमें समानतासे एक रूप किये गये प्राणिवर्गको जाति कहा जाता है । जाति जिस नामकर्मके उदयसे हो उसका नाम है जातिनामकर्म । जातिनामकर्म ५ प्रकारका है । एकेन्द्रिय जाति, दोइन्द्रिय जाति, तीनइन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति और पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म । जिसके उदयसे आत्मा एकेन्द्रिय बने उसे एकेन्द्रिय जाति नामकर्म कहते हैं । इन्द्रियाँ ५ होती हैं—(१) स्पर्शन, (२) रसना, (३) घ्राण, (४) चक्षु और (५) कर्ण । एकेन्द्रिय जीवके केवल स्पर्शनइन्द्रिय होती है । दोइन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं । तीन इन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रिय होती हैं । चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं और पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे पाँचों ही इन्द्रियाँ होती हैं । तो इन्द्रियकी दृष्टिसे इन जीवोंमें समानता है इसलिए इनको जाति कहते हैं । जैसे जितने एकेन्द्रिय जीव हैं वे सब स्पर्शनइन्द्रिय वाले हैं और स्पर्शनइन्द्रियसे ही उनके ज्ञानादिक चलते हैं । इस सदृशताके कारण केवल स्पर्शनइन्द्रिय वाले जीवोंको एकेन्द्रिय जाति कहा जाता है । इसी प्रकार शेष सभी जातियोंमें समझना ।

(२७४) **शरीरनामकर्म व उसके प्रकारोंका वर्णन**—शरीर नामकर्म—जिसके उदयसे आत्माके शरीरकी रचना हो वह शरीर नामकर्म है । शरीर आहार वर्गणाओंके परमाणु-पुञ्जमें बनता है मगर उस निर्माणमें निमित्त है शरीर नामकर्मका उदय । शरीर ५ प्रकारके हैं । उन शरीरोंके निमित्तकारणभूत कर्म भी ५ प्रकारके हैं । औदारिक शरीर नामकर्म—जिसके उदयसे औदारिक शरीर बने । ये शरीर मनुष्य और तिर्यञ्चोंके हुआ करते हैं । वैक्रियक शरीर नामकर्म—जिसके उदसे वैक्रियक शरीरकी रचना हो । यह शरीर देव और नारकियोंके होता है । आहारक शरीरनामकर्म—जिसके उदयसे आहारक शरीरकी रचना होती । आहारक शरीर आहारक ऋद्धि वाले छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके होता है । तैजस शरीर नामकर्म—जिसके उदयसे तैजस शरीरकी रचना होती है । औदारिक आदिक शरीरमें जो तेज पाया जाता है वह तैजस शरीरकी ही तो झलक है । कार्माण शरीर नामकर्म— जिस कर्मके उदयसे कार्माण शरीरकी रचना है वह कार्मण शरीर नामकर्म है । जीवके कर्म बँधते हैं, पर उन बँधे हुए कर्मोंका उस कार्माण शरीरमें समावेश होना वही तो कार्मण शरीरकी रचना है जैसे ईंट और भींत । ईंटें पड़ी हैं, उन ईंटोंको सिलसिलेसे लगाकर भींत बना दी तो भींतमें ईंट ही तो है, जो बाहर पड़ी थीं वही एक भींतकी रचनामें आ गया, पर ईंट वहीकी वही है, इसी प्रकार जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बनती हैं, उस रूप परिणमती हैं वह सब कार्माण शरीरकी रचनामें सत्तामें रहती है, वह आकार वह कार्माण शरीर है ।

(२७५) **अङ्गोपाङ्गनामकर्म व निर्माणनामकर्मका वर्णन**—अंगोपांग नामकर्म—

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जिसके उदयसे शरीरमें अंग और उपांगकी रचना हो वह अंगोपांग नामकर्म है। जिस नामकर्मके उदयसे सिर, पीठ, पेट, जंघा, बाहु, नितम्ब, पैर और हाथ इन ८ अंगोंकी रचना होती है और इन अंगोंमें होने वाले छोटे अन्य अंगोपांग कहलाते हैं, उनकी भी रचना होती है वह अंगोपांग नामकर्म कहलाता है। अंगोपांग नामकर्म तीन प्रकारका है—(१) औदारिक शरीर अंगोपांग (२) वैक्रियय शरीर अंगोपांग और (३) आहारक शरीर अंगोपांग। तैजस शरीर और कार्माण शरीरमें अंगोपांग नहीं होते क्योंकि ये इन तीन शरीरोंके आधारमें रहते हैं और उस ही जैसा इनका आकार बनता है। निर्माणनामकर्म—जिस नामकर्मके उदयसे रचना, माप और स्थानकी विधिसे बने उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं। यह निर्माण नामकर्म दो प्रकारका होता है—(१) स्थाननिर्माण और (२) परिमाण निर्माण। स्थाननिर्माण नामकर्मके कारण तो जिस स्थानपर जो अंग रचा जाना चाहिए वैसा ही वह अंग बनता है और परिमाण निर्माण नामकर्मके उदयसे जिस परिमाणमें, जिस भवमें जो अंग बनना चाहिए उस ही परिमाणमें उस अंगकी रचना होती है। अब जैसे हाथीकी नाक यदि मनुष्यके नाकके बराबर ही बनी हो तो उसको तो सारी असुविधायें हुईं। हाथीके लिए तो उस परिमाणकी ही नाक चाहिए। और कदाचित् मनुष्यकी नाक हाथीके नाककी तरह बना दी जाय तो उसको बहुत तकलीफ होगी। तो जिस भवमें जहाँ जिस परिमाणसे जिस अंगोपांगकी रचना होनी चाहिए उस ही परिमाणमें हो वह परिमाण नामकर्म कहलाता है। यह स्थान और परिमाण निर्माण जातिनामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखता है याने जिस जातिमें जैसा स्थान चाहिए, जो परिमाण चाहिए उस प्रकारकी रचना होती है। निर्माण नामकर्मकी व्याख्या इस प्रकार है। निर्माण शब्दमें निर् तो उपसर्ग है और मा धातु है, जिसकी निरुक्ति है—निर्मीयते अनेन इति निर्माणं।

(२७६) **बन्धन व संघात नामकर्मका विवरण**—बन्धन नामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे शरीर नामक कर्मोदयको प्राप्त पुद्गलका परस्परमें प्रदेशका सम्बंध हो जाता है अर्थात् शरीर नामकर्मके उदयसे तो शरीरवर्गणाओंको ग्रहण किया। ग्रहण किया हुआ वह पुद्गल एक दूसरेसे सट जाय, सम्बन्धित हो जाय, यह बन्धननामकर्मके उदयसे होता है। यदि बन्धन नामकर्मका अभाव हो तो शरीरके प्रदेश फिर इस तरहसे इकट्ठे रहेंगे जैसे कोई लकड़ी बेचने वाला लकड़ीका गट्ठा बना लेता है। उस गट्ठेमें लकड़ी तो सब संग्रहीत हैं, किन्तु एकका दूसरेसे भिन्न-भिन्न प्रविष्ट नहीं है। फिर तो शरीर भी इसी तरहका हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं है। शरीरके स्कंध एक दूसरेसे टसे हुए बँधे हुए हैं। यह बंधननामकर्मके उदयका विपाक है। यह बंधननामकर्म भी ५ प्रकारका है—(१) औदारिकशरीरबंधन नामकर्म, (२) वैक्रियक-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शरीरबंधन नामकर्म, (३) आहारकशरीरबंधन नामकर्म, (४) तैजसशरीरबंधन नामकर्म, (५) कार्माणशरीरबन्धन नामकर्म। अपने-अपने बन्धन नामकर्मके उदयसे अपने-अपने शरीर स्कंधों का परस्पर संश्लेष हो जाता है। संघात नामकर्म--इस नामकर्मके उदयसे औदारिक सहित शरीर स्कंध जिन्हें अन्योन्य प्रवेश बन्धन नामकर्मसे मिल रहा है उनका परस्पर ऐसा सट जाना कि भीतरमें कोई छिद्र भी न रहे, इस प्रकारका एकत्व बनना संघातनामकर्मके उदयसे होता है। यदि संघात नामकर्मका उदय न हो तो जैसे चनेके लड्डूका जो बन्धन होता है तो उसमें परस्परमें बीचमें छिद्र रह जाता है इसी तरह यदि संघात नामकर्म न हो तो शरीर के स्कंध परस्पर मिल तो जायेंगे, मगर बीच-बीचमें छेद रहेंगे, किन्तु ऐसा तो नहीं है। शरीर तो बिना छिद्रके ही अच्छी तरहसे गुंथा हुआ है। संघात नामकर्म ५ प्रकारका है—(१) औदारिकशरीर संघात नामकर्म, (२) वैक्रियकशरीर संघात नामकर्म, (३) आहारक-शरीरसंघात नामकर्म, (४) तैजसशरीर संघात नामकर्म और (५) कार्माणशरीर संघात नाम-कर्म। इनमें प्रत्येकके उदयसे उन-उन शरीरोंके स्कंध पूरे सिमट करके शरीरसे सम्बद्ध होते हैं।

(२७७) **संस्थाननामकर्म व उसके प्रकारोंका वर्णन**—संस्थान नामकर्म—जिस नाम कर्मके उदयसे शरीरका आकार बनता है उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। यह ६ प्रकारका है—(१) समचतुरश्रसंस्थाननामकर्म—शरीरका आकार कितना सुडौल होना जो सर्वोत्कृष्ट सुन्दर आकार होता है--कितनी भुजायें होना, कितने पैर होना नाभिसे नीचेके अंग भी उतने ही विस्तृत हैं जितने कि नाभिसे ऊपर होते हैं। यह तीर्थंकरोंके तो पाया ही जाता है, अन्य पुरुषोंके भी पाया जाता है। (२) न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान नामकर्म—जिस नामकर्मके उदयसे बड़के पेड़की तरह आकार हो अर्थात् नाभिसे नीचेके अंग छोटे हों और नाभिसे ऊँचे के अंग विस्तृत हों। (३) स्वातिसंस्थान नामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे शरीरका आकार साँपकी वामीकी तरह होता है अर्थात् नाभिसे नीचेके अंगका विस्तार अधिक होता है और नाभिसे ऊपर विस्तार कम होता है। (४) कुब्जकसंस्थान नामकर्म इस नामकर्मके उदयसे शरीर कुबड़ा होता है। जैसे पीठपर कूबड़ निकल आना इस तरहके अंग होते हैं। (५) वामन संस्थान नामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे शरीरका आकार बौना होता है। जैसे कि कहीं कहीं बौने मनुष्य पाये जाते हैं। बुद्धि बल सब बड़े लोगों जैसा होता, पर कद छोटे बच्चों जैसा छोटा होता है। (६) हुंडक संस्थान नामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे सर्व अंगोपांग अटपट हुआ करते हैं, जैसे गाय, भैंस, कीड़ा मकोड़ा आदि कितनी ही तरहके जीव पाये जाते। मनुष्योंमें भी जहाँ कोई ऊपरके ५ संस्थानोंमें से एक भी नहीं है किन्तु किसीका चिन्ह

http://sahjanandvarnishastra.org/

मिल रहा, कुछ किसीका आकार है तो वह भी हुंडक संस्थान कहलाता है।

(२७८) **संहनन नामकर्म व उसके प्रकारोंका वर्णन**—संहनननामकर्म— जिसके उदय से हड्डियोंका बन्धन विशेष होता है उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। यह ६ प्रकारका होता है। (१) वज्रवृषभनाराचसंहनन नामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे वज्रके हाड़, वज्रके बेंठन और वज्रकी कीलियाँ होती हैं। उनसे बड़ा दृढ़ रचा हुआ शरीर होता है। बेंठन कहलाता है हड्डीके ऊपर चढ़े हुए भीतरी माँसपिण्ड। ये सब वज्रके होते हैं। इस संहननधारी पुरुषका शरीर बहुत मजबूत होता है। पर्वतसे भी गिर जाय यह शरीर तो भी इस शरीरके खण्ड नहीं हो पाते। श्री हनुमान जी जिनका जन्म बनमें गुफामें हुआ था और अचानक उनके मामा वायुविमानसे जा रहे थे, वह विमान वहाँ स्थिर हो गया तो नीचे जाकर देखा कि उसकी ही बहन अंजनाके पुत्र हुआ था सो वह पुत्रसहित अंजनाको अपने विमानमें बैठाकर जा रहा था। अचानक ही वह बालक हनुमान खेलते हुए में विमानसे नीचे जा गिरा। उस समय अंजनाने भारी विकल्प किया। खैर विमान रुका, नीचे जाकर देखा तो क्या देखनेमें आया कि वह हनुमान बालक पत्थरकी एक शिलापर गिरा था, शिलाके टूक टूक हो गए थे पर बालक हनुमान प्रसन्न मुद्रामें अपने पैरका अंगूठा चूस रहा था। उस समय हनुमानके मामाने अंजनासे बताया कि बालक हनुमान मोक्षगामी जीव है, इसी भवसे मोक्ष जायगा। यह बहुत पवित्र आत्मा है। तब उस बालक हनुमानको तीन प्रदक्षिणा देकर उठाया और अंजना बहुत प्रसन्न हुई। तो वज्रवृषभनाराचसंहननसहित जो होता है वह जीव मोक्ष जा सकता है, और ७वें नरकमें भी इस संहननका धारी जीव उत्पन्न हो सकता है। (२) वज्र-नाराचसंहनन नामकर्म—वज्रके हाथ और वज्रकी कीली हो, पर बेंठन वज्रमय न हो, ऐसे शरीरको जो रचे उसे बज्रनाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं। (३) नाराचसंहनन नामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे कीलियाँ तो होती हैं वज्रमयी, पर अस्थि और बेंठन बज्रके नहीं होते। (४) अर्द्धनाराच संहनन—इस नामकर्मके उदयसे कीलियोंसे हड्डियां जड़ी होती हैं। जैसे एक हड्डीमें दोनों तरफ कीली निकली है और दूसरी हड्डीमें दोनों तरफ छिद्र हैं तो वे दोनों तरफकी कीली उन छिद्रोंमें टसी हुई हैं, इसी पर इस संहननमें काफी कीलियाँ होती हैं। (५) कीलकसंहनन इस संहननसे केवल कीलका जैसा ही संकेत रहता है और ये दोनों ही अन्तमें कीलीसे रचे हुए होते हैं। (६) असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन—इस नामकर्मके उदय से भीतर हड्डियोंका परस्पर बंध तो नहीं होता किन्तु नशाजाल, मांस आदिक लिपटकर वे हड्डियाँ इकट्ठी रहा करती हैं। इस नामकर्मके उदयमें शरीर विशिष्ट बलशाली नहीं होता। इस शरीरमें कोई झटका लगे, पेड़से गिरे या कोई एक्सीडेन्ट हो तो हड्डी भी टूट सकती है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और अलग भी हो सकती है नसाजाल भी बिखर सकता है।

(२७६) **स्पर्शनामकर्म व उसके प्रकारोंका वर्णन**—स्पर्शनामकर्म– जिस नामकर्मके उदयसे शरीरमें स्पर्शका प्रादुर्भाव हो उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं। यद्यपि स्पर्श सभी पुद्गलमें होते हैं, शरीर भी पुद्गल है, तो पुद्गलके नाते स्पर्श होना प्राकृतिक बात है, फिर इसे नामकर्ममें क्यों रखा ? ऐसी आशंका हो सकती है। याने स्पर्श नामकर्म नहीं होता। वह जब शरीर पुद्गल है तो स्पर्श तो हुआ करते, फिर इन कर्मोंकी क्या आवश्यकता रही ? इस शङ्काका समाधान यह है कि इस स्पर्श नामकर्मके उदयसे प्रतिनियत शरीरमें प्रतिनियत स्पर्श होता है। जैसे जितने घोड़े हैं उनका स्पर्श घोड़ों जैसा मिलेगा, मनुष्योंमें उनका स्पर्श मनुष्यों जैसा मिलेगा। तो ऐसे शरीरमें जो एक नियत सा स्पर्श होता है यह स्पर्श नामकर्म के उदयसे है। इसके ८ भेद हैं—करकसनामकर्म–इससे शरीर कठोर मिलता है। मृदुनाम-कर्म–इससे शरीरमें कोमलता होती है। गुरुनामकर्म–इससे शरीरमें वजन होता है। लघुनाम-कर्म—इससे शरीरमें चिकनाई होती है। स्निग्ध नामकर्म–इस नामकर्मके सभीके और भी अनेक प्रकार हैं जिससे नाना प्रकारके स्निग्धके अंश पाये जाते हैं। रूक्षनामकर्म–जिसके उदय से शरीरमें रूखापन हो। शीतनामकर्म–जिसके उदयसे शरीरमें ठंडापन हो, उष्णनामकर्म–जिसके उदयसे शरीरमें गर्मी हो।

(२८०) **रसनामकर्म व उसके प्रकारोंका वर्णन**—रस नामकर्म– इसके उदयसे शरीरमें विभिन्न रस हुआ करते हैं। यहाँ भी वही शंका समाधान समझना कि जब शरीर पौद्गलिक है तो रस तो हुआ ही करता, फिर रस नामकर्मकी क्या आवश्यकता रही ? तो उत्तर यह है कि रस नामकर्मके उदयसे प्रतिनियत शरीरमें प्रतिनियत रस रहता है। जैसे मनुष्योंके शरीरमें मनुष्यों जैसा रस मिलेगा, गाय, पशु आदिकके शरीरमें उन जैसा होगा। तो शरीर पुद्गलमय है तो रस होता है पर रस नामकर्मके उदयसे उसमें विशेषता बनती। जिन जिन शरीरोंमें जैसा रस सम्भव है वैसा ही होगा। रस नामकर्म ५ प्रकारके हैं—तिक्तनामकर्म—जिसके उदयसे शरीरमें तीखा रस हो—जैसे नमक, मिर्च जैसा। अथवा पसीना आने पर पसीनेका रस तीखा ही होता है। कटुक नामकर्म– जिसके उदयसे शरीरमें कड़वा रस हो। किसी मनुष्यके शरीरपर मच्छर कम बैठते हैं, किसीके शरीरपर अधिक, तो उसका कारण यह है कि जिनके कटुक शरीर नामकर्मका उदय है उनके कड़वा रस होता है। वह मच्छरोंको इष्ट नहीं है। कषाय नामकर्म—जिसके उदयसे शरीरका रस कषायला हो। आम्लनामकर्म—जिसके उदयसे शरीरका रस खट्टा हो। मधुर नामकर्म–जिसके उदयसे शरीरका रस मधुर हो।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(२८१) **गन्धनामकर्म व वर्णनामकर्म तथा उनके प्रकारोंका वर्णन**—गंध नामकर्म–जिसके उदयसे शरीरमें विविध गंध उत्पन्न हों। श गलिक होनेसे गंध तो होता, पर नामकर्मके उदयके कारण प्रतिनियत शरीरमें प्रतिनियत गंध होता है। जैसे जितने घोड़े हैं उनकी गंध घोड़ों जैसी ही होती है। लोग कैसे परख जाते हैं कि यहाँ रीछ रहता है? रीछ जैसी गंध आती है। सिंह कैसे जान जाता है कि यहाँ कोई गाय, बैल मौजूद हैं? उनकी वैसी ही गंध आती है। तो जिन शरीरोंमें जैसी गंध है उन शरीरोंमें उस जातिकी वैसी ही गंध होना यह गंध नामकर्मके उदयसे है। वर्णनामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे प्रतिनियत शरीरों में प्रतिनियत जैसा वर्ण होता है। शरीर पौद्गलिक होनेसे कोई न कोई रूप तो रहता ही है, मगर नामकर्मके कारण जैसा रूप होना है वैसा ही होता है। जैसे गायका रूप सब गायों जैसा हुआ करता है, मनुष्योंका रूप मनुष्यों जैसा हुआ करता है। किसी मनुष्यका रूप कहीं भैंस जैसा न हो जायगा। तो इस प्रकार प्रतिनियत रूप रहा करता है। ये नामकर्म ५ प्रकार के हैं। कृष्णवर्ण नामकर्म—इसके उदयसे शरीरका वर्ण काला होता है। नीलवर्ण नामकर्म—इसके उदयसे शरीरका वर्ण नीला होता है। रक्तवर्ण नामकर्म—इसके उदयसे शरीर का वर्ण लाल होता है। पीतनामकर्म—इसके उदयसे शरीरका वर्ण हल्दीके समान पीला होता है। शुक्लवर्ण नामकर्म—इसके उदयमें शरीरका वर्ण श्वेत होता है।

(२८२) **शरीररचनाके निमित्तकारणका प्रकाशन**—कुछ लोग मानते हैं कि इस शरीरकी रचना करने वाला कोई एक विधाता है। यदि कोई एक आत्मा जगतके जीवोंके शरीरोंको रचता है तो वह रचने वाला क्या निमित्त कारण होकर रचता है या उपादान कारण बनकर रचता है? यदि वह ईश्वर निमित्त कारण बनकर रचता है तो इसकी मीमांसा तो फिर हो जायगी, पर इतना तो निश्चत हो गया कि उपादानभूत पुद्गल वर्गणायें अवश्य हैं, और जिसमें शरीर रचा जाता है। तब जैसे कुम्हारने घड़ा बनाया तो घड़ा मृत्पिण्डसे ही बना। वह सत्ता तो पहलेसे ही रही। और जब सत्ता पहलेसे है तो उन पदार्थोंमें उनमें रचना बन गई। तो वास्तवमें तो करने वाला दूसरा न रहा। जो पदार्थ हैं उन्हींका ही एक परिणमन हो गया। और फिर अनन्तानन्त जोव हैं। कोई एक आत्मा अनन्तानन्त जीवोंका शरीर रचता रहे तो उसे अपने आपको तो व्यग्रता हो गई। और यह प्राकृतिक बात है कि जो जीव जैसी कर्म चेष्टा कहता है उसको उस प्रकारके नामकर्मका बन्ध होता है और उसके उदयमें उस प्रकारका शरीर प्राप्त होता है। तो ये सब जो पुद्गलके परिणमन हैं, शरीररूप रचनायें हैं ये कर्मोदयका निमित्त पाकर स्वयं ही वर्गणावोंमें उस उस प्रकारकी रचना बन जाती है।

(२८३) **आनुपूर्व्यनामकर्म और उसके प्रकारोंका वर्णन**—आनुपूर्व्यनामकर्म–जिसके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उदयसे पूर्वशरीरके आकारका विनाश नहीं होता है उसको आनुपूर्व्यनामकर्म कहते हैं। इसके चार प्रकार हैं— (१) नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वनामकर्म (२) तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनामकर्म (३) मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनामककर्म और (४) देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनामकर्म। जिनके संक्षिप्त नाम हैं—नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यक्गत्यानुपूर्व्य, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और देवगत्यानुपूर्व्य। जिस समय कोई मनुष्य अथवा तिर्यंच आयु पूर्ण करके अपने पूर्व शरीरसे अलग होता है और मानो वह नरकभवके प्रति अभिमुख है याने नरकगतिमें जा रहा है, उसके विग्रहगतिमें पूर्व शरीरके आकार आत्मप्रदेश रहेंगे। सो पूर्वशरीरके आकार आत्मप्रदेशोंके रहनेका कारण नरकगत्यानुपूर्व्यका उदय है। विग्रहगतिका अर्थ है—मरणके बाद जन्मस्थानपर पहुंचनेके बीच जो क्षेत्रमें गमन होता है वह विग्रहगति कहलाती है। विग्रह मायने शरीर है। नवीन शरीर पानेके लिए गति होनेका नाम विग्रहगति है। अथवा विग्रह मायने मोड़ा है। मोड़ सहित गतिको विग्रहगति कहते हैं। तो ऐसे ही अन्य आनुपूर्वियोंका भाव समझना चाहिए। यहाँ इतना विशेष समझना कि मनुष्य मरकर चारों गतियोंमें उत्पन्न हो सकते हैं, तिर्यंच मरकर चारों गतियोंमें उत्पन्न हो सकते हैं, देव मरकर मनुष्य या तिर्यंच इन दो गतियोंमें उत्पन्न हो सकते हैं, नारकी मरकर मनुष्य या तिर्यंच इन दो गतियोंमें उत्पन्न हो सकते हैं। मरकर जीव जिस गतिमें जायगा उस गतिके नाम वाली आनुपूर्वीका उदय विग्रहगतिमें होता है। तो विग्रहगतिमें आकार तो पूर्व शरीरके आकारका होता है, किन्तु जीव कहलाता है जिस गतिमें उत्पन्न होगा उस गतिका। अथवा आयुके हिसाबसे वह जीव मरणकालमें ही उत्पन्न हो गया तो विग्रहगतिमें भी उसका जन्म कहलाता है, पर शरीर पानेके हिसाब से उस क्षेत्रपर जाकर जन्म कहलाया। और यहाँ रूढ़िमें लोकव्यवहारमें मनुष्य या तिर्यंचोंके गर्भसे निकलकर बाहर आनेको जन्म कहा करते हैं। वस्तुतः जन्म नवीन आयुका उदय होते ही कहलाने लगता है।

(२८४) **निर्माणनामकर्मके उदयसे औदारिकादि शरीरमें आकार तथा आनुपूर्व्यनामकर्मके उदयसे औदारिकादिशरीररहित तैजसकार्माण शरीरस्थ आत्माका आकार**—यहाँ शंकाकार कहता है कि विग्रहगतिमें जीवका आकार रहता है सो आकार रहनेका निमित्त कारण निर्माण नाम कर्म बन जायगा। याने विग्रहगतिके आकार रचनाका कार्य निर्माण नामकर्मके उदयसे हो जायगा, फिर आनुपूर्वी नामकर्म माननेकी जरूरत नहीं। इस शंकाके उत्तर में कहते हैं कि निर्माणनामकर्मका कार्य और प्रकार है, आनुपूर्वी नामकर्मका कार्य और तरह है। पहली आयुका वियोग होनेके समय ही पूर्व शरीर तो अलग हट ही गया, उसमें जीवका सम्बंध नहीं है। तो जब पूर्व शरीर हटा उस ही कालमें निर्माण नामकर्मका उदय भी हट

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गया। अब पूर्व शरीरके हटने पर, निर्माण नामकर्मके उदयके हटने पर अब यह सूक्ष्म शरीर वाला जीव रहा, अर्थात् ८ प्रकारके कर्मपिण्ड रूप कार्माण शरीर और उस ही के साथ तैजस शरीर, इन दो शरीरोंसे सम्बंध रखने वाला आत्मा रहा, उस आत्माके अब जो पूर्व शरीरके आकार जैसा आकार है उस पूर्वाकारका नाश नहीं हुआ है इसके कारण आनुपूर्वी नामकर्म का उदय है। निर्माण नामकर्मका उदय शरीर रहने तक रहता है।

(२८५) **विग्रहगतिमें रहनेके समयोंका सयुक्तिक विवरण**—विग्रहगतिमें जघन्य तो एक समय रहता है और उत्कृष्ट तीन समय रहता है। कोई जीव मरण स्थानसे जन्म स्थान तक पहुंचनेमें एक मोड़ा लेता है तो उसका विग्रहगतिमें एक समय रहना होता है। यदि दो मोड़ा लिया तो दो समय और तीन मोड़ा लिया तो तीन समय तक विग्रहगतिमें रहना बनता है। यदि कोई जीव ऋजुगतिसे गमन करके जन्म लेता है अर्थात् बीचमें मोड़ा नहीं लेता तो उसके पूर्व शरीरका आकार नष्ट होने पर अगले शरीरके योग्य पुद्गल वर्गणावों का ग्रहण होने लगा सो वहां निर्माण नामकर्मके उदयका व्यापार है। जीव मरकर जन्म-स्थानपर पहुंचता है तो उसको मोड़ा क्यों लेना पड़ता है ? इसका कारण यह है कि जीव मरण करके सीधी दिशामें गमन करता है। पूर्वसे पश्चिम, पश्चिमसे पूर्व, उत्तरसे दक्षिण, दक्षिणसे उत्तर, ऊपरसे नीचे ठीक सीधा गमन करता है। अब यदि कोई पूर्व दिशासे मरकर दक्षिण दिशाको जाता है तो सीधी गति होनेके कारण उसे मोड़ा नहीं लेना पड़ेगा, और यदि उसी दक्षिण दिशामें कुछ ऊपर नीचे जन्म लेता है तो एक मोड़ा लेना पड़ता है। ऐसे ही सब जगह घटा लेना चाहिए। पर लोकके किसी भी स्थानसे मरण करके किसी भी स्थानपर जन्म लेवे तो तीन मोड़ेसे अधिक लगानेकी आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु ऋजुगति में ठीक सीधा गमन कर गया नीचेसे ऊपर या पूर्वसे पश्चिम, उत्तरसे दक्षिण कहीं वह बिल्कुल सीधा गमन करता है तो वहाँ मोड़ा नहीं लेना पड़ता, इस कारण पूर्व शरीरका आकार नष्ट होते ही नवीन शरीरकी वर्गणायें ग्रहणमें आती हैं। वहाँ बीचमें एक समयका अन्तर नहीं मिल पाता और इसी कारण ऋजुगतिसे जन्म लेने वाले जीवके निर्माण नामकर्म का उदय प्रथम क्षणमें ही हो जाता है। वहाँ आनुपूर्वी नामकर्मका उदय नहीं है।

(२८६) **अगुरुलघुनामकर्मप्रकृतिका वर्णन**—अगुरुलघुनामकर्म—जिस नामकर्मके उदयसे न तो लोहेके पिण्डकी तरह ऐसा वजनदार शरीर होता जो यों ही नीचे गिर जाय और न आकके तूलकी तरह हल्का शरीर होता जो कि ऊपर ही सहज उड़ता उड़ता फिरे, किन्तु यथायोग्य शरीर होता है वह अगुरुलघु नामकर्म है। यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि धर्म, अधर्म, आकाश, आदिक अजीव द्रव्योंमें अगुरुलघुपना कैसे होता है ? तो उसका समा-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

धान है कि अनादिपारिणामिक अगुरुलघुगुण सब द्रव्योंमें पाया जाता है। उस अगुरुलघु गुण के योगसे इनमें अगुरुलघुपना होता है। मुक्त जीवोंके अगुरुलघुपना कैसे होता है ? उत्तर— अनादिकालीन कर्म नोकर्मका संबंध जिन जीवोंके है ऐसे संसारी जीवोंके तो अगुरुलघुत्व कर्मोदयकृत होता है, अर्थात् कर्मका उदय होनेपर यह अगुरुलघुरूप परिणमन होता है, किन्तु कर्म और नोकर्मका सम्बन्ध बिल्कुल हट जानेपर अगुरुलघु स्वाभाविक प्रकट होता है।

(२८७) **उपघात परघात आतप उद्योत व उच्छ्वास नामकर्मप्रकृतियोंका विवरण**— उपघातनामकर्म– जिस कर्मके उदयमें स्वयंकृत बंधन हो या स्वयं पर्वतसे गिरने आदिकके कारण उपघात हो वह उपघात नामकर्म है। ऐसे भी अनेक मनुष्य पाये जाते हैं जो किसी स्थानपर ऊँचे पर्वतसे गिरकर मर जानेमें वैकुण्ठका लाभ मानते हैं, तो यों स्वयं उपघात किया वह उपघातका ही तो विपाक है। परघात नामकर्म—जिसके उदयसे दूसरे प्राणियोंके द्वारा प्रयोग किए गए शस्त्रादिकसे आघात होता है वह परघात नामकर्म है। इस परघात नामकर्म प्रकृतिके उदयमें यह जीव कवच आदिक धारण करके कितनी भी अपनी रक्षा करे तो भी दूसरेके द्वारा शस्त्रादिकसे उसका घात हो जाता है। आतपनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे आतपन तपा जाता है। जैसे कि सूर्य आदिकमें ताप होता है वह आताप नामकर्म है। तथा जिसके उदयसे चंद्रमा जुगनू तथा अन्य पशुपक्षियोंमें, कीड़ोंके शरीरमें जो उद्योत होता है वह उद्योत नामकर्म है। यहाँ चंद्रसे मतलब चंद्रविमानसे है। चंद्रविमान पृथ्वीकायिक जीवका स्वरूप है। तो ऐसे उद्योतप्रकाश वाले देहके धारी पुरुषोंके उद्योत नामकर्मका उदय है। उच्छ्वासनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे उच्छ्वास हो, श्वांस लेवे और छोड़े उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं। यह उच्छ्वास एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके सभी जीवोंमें पाया जाता है। पृथ्वी, जल, वनस्पति आदिकके भी उच्छ्वास होता है। वृक्षोंको तो लोग अनुमान करने लगे हैं कि ये श्वांस लेते हैं और छोड़ते हैं, पर किन्हींका नहीं व्यक्त हो पाता। सभी प्राणियोंके श्वास और उच्छ्वास होता है।

(२८८) **विहायोगगति नामकर्मप्रकृतिका वर्णन**—विहायोगगति नामकर्म—विहायस् नाम आकाशका है। उसमें गतिकी जो रचनाका निमित्त हो उसको विहायोगगतिनामकर्म कहते हैं। यह नामकर्म शुभ और अशुभके भेदोंसे दो प्रकारका है। जिनका गमन शुभ हो, रमणीक हो उनके तो प्रशस्त विहायोगगति है जैसे श्रेष्ठ बैल, हाथी, हंस आदिक। इनकी प्रशस्त गति हुआ करती है, और जिस विहायोगगतिके उदयसे अशुभ गमन हो वह अप्रशस्त विहायोगगति नामकर्म कहलाता है। इसके उदयसे ऊँट, गधा, आदिक जैसे प्राणियोंमें अशुभगति हुआ करती है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि सिद्ध हो रहे जीवके अथवा शुद्ध हो रहे पुद्गलके अर्थात् पर-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

माणुके विहायोगगति किस कारणसे होता है ? गमन तो उनके भी होता है। अष्ट कर्मोंसे मुक्त होनेपर जीव एक ही समयमें ७ राजू गति करके सिद्ध लोकमें विराजमान हो जाता है। परमाणुमें भी गति एक समयमें १४ राजू तक बतायी गई है। तो वह गति किस प्रकार होती है ? समाधान—सिद्धभगवानमें और शुद्ध परमाणुकी गति स्वाभाविकी होती है। यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि विहायोगगति नामकर्मका उदय पक्षियोंमें ही पाया जाना चाहिये, क्योंकि आकाशमें उड़ान उनका ही चलता है। मनुष्यगतिमें, पशु कीड़ोंमें विहायोगगति न होनी चाहिए क्योंकि वे तो जमीन पर चलते हैं। उत्तर—मनुष्यादिककी भी गति आकाशमें होती है। भले ही वे जमीनको तजकर ऊपर आकाशमें नहीं चले रहे, लेकिन जमीन तो एक शरीर का आधार मात्र है, पर गमन तो आकाशमें होता है। कहीं पृथ्वीके भीतर गमन नहीं हो रहा। और वैसे देखा जाय तो पृथ्वीके भीतर भी अकाश है। गमन तो आकाशमें हुआ। सभी जीवोंकी गति आकाशमे ही है क्योंकि आकाशमें ही अवगाहन शक्ति पायी जाती है।

(२८६) **प्रत्येकशरीरनामकर्म व साधारणशरीरनामकर्मका वर्णन**—प्रत्येक शरीर नामकर्म—जिस शरीर नामकर्मके उदयसे रचा गया शरीर एक ही आत्माके उपयोगका कारण होता है वह प्रत्येक शरीर नामकर्म कहलाता है अर्थात् एक शरीरमें एक ही जीव होता है। एक-एक आत्माके प्रति होनेका नाम प्रत्येक है और प्रत्येक शरीरको प्रत्येक शरीर कहते हैं—जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदिक जितने भी ये दृश्य प्राणी हैं वे सब प्रत्येक शरीरधारी हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येकवनस्पतिके भी प्रत्येक शरीर है। साधारण शरीर नामकर्म—जिस नामकर्मके उदयसे बहुत आत्मावोंके उपयोगका कारण रूपसे साधारण शरीर मिले उसको साधारण शरीर नामकर्म कहते हैं। इस नामकर्मके उदयसे जीव किस प्रकारके होते हैं सो सुनो—इस जीवके आहार आदिक चार पर्याप्तिकी रचना जन्ममरण श्वासोच्छ्वास अनुग्रह उपघात सब साधारण होता है। जिस समय एक जीवके आहार आदिककी रचना है उसी समय अनन्त जीवोंके आहार आदिक पर्याप्तिकी रचना है। जिस क्षणमें एक जीव उत्पन्न होता है उसी क्षणमें अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं। इसी तरह जिस क्षणमें एक जीव मरणको प्राप्त होता है उसी क्षणमें अनन्त जीवोंका मरण होता है। ऐसे ही जिस समय एक जीवके श्वासोच्छ्वासका लेना छोड़ना होता है उसी समय अनन्त जीव श्वास और उच्छ्वासके लेने छोड़नेको करते हैं। जब एक जीव आहार आदिकके द्वारा अनुगृहीत होता है तो उस ही समय अनन्त जीव उस ही आहारसे अनुगृहीत होते हैं। ऐसे ही जिस क्षणमें एक जीव अग्नि, विष आदिकसे उपघातको प्राप्त होता है उसी समय अनन्त जीवोंका उपघात होता है। ऐसे ये जीव एक शरीरमें अनन्त पाये जाते हैं अर्थात् उन अनन्त जीवोंका एक शरीर है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(२९०) **त्रसनामकर्मप्रकृति, स्थावरनामकर्मप्रकृति, सुभगनामकर्मप्रकृति व दुर्भगनाम प्रकृतिका निर्देश**—त्रस नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे दोइन्द्रिय आदिकमें जन्म हो उसको त्रस नामकर्म कहते हैं। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं। स्थावर नामकर्म—जिस नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियमें जन्म होता है, एकेन्द्रियभव मिलता है उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं। ये एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति के भेदसे ५ प्रकारके हैं— इन वनस्पतियोंमें दो प्रकार हैं— (१) प्रत्येक वनस्पति और (२) साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति तो भक्ष्य वनस्पति है और साधारण वनस्पति व्रतियों द्वारा भक्ष्य नहीं मानी गई है, क्योंकि वहाँ एक शरीरके आश्रय अनन्त एकेन्द्रिय जीव पाये जाते हैं। सुभगनामकर्म— जिसके उदयसे रूपवान हो या अरूप हो, उसके प्रति लोगोंको प्रीति उत्पन्न होवे उसे सुभग नामकर्म कहते हैं। इस नामकर्मके उदयसे दूसरा जीव अन्य अनेक जीवोंको प्रिय लगा करता है। दुर्भगनामकर्म वह है कि रूपवान होकर भी जिसके उदयसे दूसरोंको प्रिय न लगे किन्तु अप्रीतिकर प्रतीत हो वह दुर्भग नामकर्म है।

(२९१) **सुस्वर, दुःस्वर, शुभ, अशुभ, सूक्ष्म व बादर नामकी नामकर्म प्रकृतियोंका निर्देश**—जिसके उदयसे सुन्दर स्वर मिले वह सुस्वर नामकर्म है, और जिसके उदयसे भद्दा स्वर मिले वह दुस्वर नामकर्म है। दुस्वर किसके है, यह बात दूसरोंको जल्दी विदित होती है। कोई खुद गाता है तो चाहे खोटा भी स्वर हो तो भी उसे प्रिय लगता है। विशेष दुःस्वर होने पर वह खुद भी ज्ञान कर लेता है कि मेरा स्वर आलाप सही नहीं है। शुभ नामकर्म—जिसके उदयसे देखने या सुननेपर रमणीक प्रतीत हो, जिसके अंग सुन्दर लगें वह शुभ नामकर्म है और जिस नामकर्मके उदयसे अंगादिक रमणीक न लगें वह अशुभ नामकर्म है। जिसके उदयसे अन्य जीवोंके अनुग्रह या उपघातके अयोग्य सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति हो वह सूक्ष्म नामकर्म है। इस नामकर्मके उदयसे ऐसा सूक्ष्म शरीर मिलता है कि जिसको कोई घात नहीं सकता, छेद नहीं सकता, किन्तु वह जीव जिसको सूक्ष्म शरीर मिला है अपने ही आयु के क्षयसे मरता रहता है। जिस नामकर्मके उदयसे ऐसा स्थूल शरीर मिले जो दूसरेको बाधा करने वाला हो उसे बादर नामकर्म कहते हैं। इस नामकर्मके उदयसे ऐसा स्थूल शरीर मिलता है कि जिसको कोई छेद-भेद नहीं सकता। भले ही कितने ही बादर अदृश्य भी होते पर रूढ़िसे कहो अथवा इस तरहकी कुछ शक्ति पायी जाती है इसलिए उनके भी बादरनाम-कर्मका उदय जानना चाहिये।

(२९२) **पर्याप्ति व अपर्याप्ति नामकर्मप्रकृतियोंका वर्णन**—जिसके उदयसे आत्मा आहार आदिक वर्गणावोंके ग्रहणसे आहारादि पर्याप्तियों द्वारा अन्तर्मुहूर्तमें पूर्णताको प्राप्त

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होता है उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं। वह ६ प्रकारका है—(१) आहारपर्याप्ति नामकर्म (२) शरीरपर्याप्तिनामकर्म (३) इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म (४) प्राणापानपर्याप्ति नामकर्म (५) भाषापर्याप्ति नामकर्म और (६) मनःपर्याप्ति नामकर्म। यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि प्राणापान पर्याप्ति नामकर्मसे ही वायुका निकलना, प्रवेश करना हो जाता है और वही काम उच्छ्वास नामकर्ममें बताया है। श्वांसका लेना और छोड़ना होता है, तो फिर इन दोनोंमें कोई अन्तर न रहा। समाधान—प्राणापानपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास नामकर्ममें यह अन्तर है कि प्राणापानपर्याप्ति तो सब जीवोंके होती है किन्तु वह अतीन्द्रिय है। कान और स्पर्शन से उसका अनुभव नहीं हो पाता, किन्तु उच्छ्वास कर्मके उदयसे पञ्चेन्द्रिय जीवोंके जो शीत, उष्ण आदिकसे लम्बे श्वासोच्छ्वास निकलते हैं उनका स्रोत्रसे भी ग्रहण होता है और स्पर्शन से भी ग्रहण होता है। अर्थात् इनके श्वाससे निकली हुई हवा हाथ आदिकको मालूम पड़ जाती है और उसकी आवाज भी सुननेमें आती है, किन्तु श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिमें वह श्वासोच्छ्वास इन्द्रियसे ज्ञात नहीं हो पाता। यही इन दोनोंमें अन्तर है। अपर्याप्तिनामकर्म—जिसके उदयसे छहों पर्याप्तियोंकी पूर्णता करनेको आत्मा समर्थ रहे, आत्मसामर्थ्य रहे उसे अपर्याप्तिनामकर्म कहते हैं। यहां इतना विशेष समझना कि अपर्याप्त दो प्रकारके होते हैं—(१) निर्वृ त्य अपर्याप्त तथा (२) लब्ध अपर्याप्त। निर्वृ त्यअपर्याप्त—पर्याप्ति नामकर्मका उदय है किन्तु वह अभी पर्याप्तियोंसे पूर्ण नहीं हो सकता किन्तु नियमसे पर्याप्तियां पूर्ण हो जायेंगी, किन्तु लब्धपर्याप्तकी अपर्याप्ति नामकर्मका उदय है, उनके पर्याप्तियां पूर्ण न तो हुईं और न होंगी। अपर्याप्त अवस्थामें ही उनका मरण हो जायगा। आहार पर्याप्तिमें जिन वर्गणावोंसे शरीर बनता है उन वर्गणावोंको ग्रहण करनेकी शक्ति पूरी हो जाती है। शरीर-पर्याप्तिमें शरीरवर्गणाकी पर्याप्ति पूर्ण हो जाती हैं। इन्द्रियपर्याप्तिमें जिन वर्गणावोंसे इन्द्रियां बनती हैं उन इन्द्रियोंके बननेकी शक्ति आ जाती है। श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, इन पर्याप्तियोंमें भी अपनी योग्य वर्गणावोंको ग्रहण करनेकी और उस कार्यके पूर्ण होनेकी शक्ति आ जाती है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास इन चार पर्याप्तियोंमें आहार वर्गणावों का ग्रहण होता है। भाषा पर्याप्तिमें भाषा वर्गणावोंका ग्रहण होता है। मनःपर्याप्तिमें मनो-वर्गणाका ग्रहण होता है।

(२६३) स्थिर, अस्थिर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति व अयशःकीर्ति नामक नामकर्म की प्रकृतियोंका वर्णन—स्थिरनामकर्म-स्थिर भावके रचने वाले कर्म स्थिरनामकर्म कहलाते हैं। इनके उदयसे ऐसे अंगोपांगकी स्थिरता रहती है कि बड़े कठिन उपवास आदिक भी कर लिए जायें, तपश्चरण भी कर लिए जायें, फिर भी अंग और उपांगोंमे स्थिरता रहती है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वात, पित्त, कफ आदिक कुपित नहीं हो पाते। अस्थिरनामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे कोई थोड़ा भी उपवास आदिक करे या थोड़ा भी शीत, उष्ण आदिकका सम्बंध हो तो अंग और उपांग कृष हो जाते हैं, स्थिर नहीं हो पाते हैं। वात, पित्त कफ भी कुपित हो जाते हैं। आदेय नामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे प्रभारहित शरीरकी रचना होती है। यहाँ एक शंका हो सकती है कि तैजस नामका एक सूक्ष्म शरीर कहा गया है। उसके निमित्तसे शरीरकी प्रभा बन जाती है, फिर आदेय कर्म माननेकी क्या आवश्यक्ता है ? समाधान—तैजस शरीर तो सर्व संसारी जीवोंके तेजका निर्माता है। यदि शरीर यह व्यक्त प्रभा तैजस शरीर नामकर्मसे माना जाय तो सब संसारी जीवोंके शरीरकी प्रभा एक समान बन जाना चाहिए, क्योंकि तैजस शरीर तो सर्व संसारी जीवोंके पाया जाता है किन्तु शरीरकी व्यक्त प्रभा सब जीवोंमें नहीं पायी जाती। इससे सिद्ध है कि शरीरकी प्रभा आदेय नामकर्मसे होती है। यशकीर्ति नामकर्म—पवित्र गुणोंकी प्रसिद्धिका कारणभूत जो नामकर्म है उसके उदयसे पुण्यवान जीवों के पुण्य गुणोंका स्थापन होता है। यश नाम है गुणोंका और कीर्ति नाम है स्तवनका। गुण का स्तवन हो सके उसे कहते हैं यशकीर्ति। यहाँ कीर्तिका अर्थ यश नहीं है जिससे यह संदेह बने कि पुनरुक्त शब्द बोला गया। कीर्तिका अर्थ है कीर्तन होना, प्रसिद्धि होना। गुणोंकी प्रसिद्धि होना, गुणोंकी स्तुति होना यश कीर्ति है। अयशकीर्ति—जिस कर्मके उदयसे अयशकी प्रसिद्धि हो, पहले गुणोंका स्थापन हो उसे अयशकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

(२६४) **तीर्थंकरत्वनामप्रकृतिका वर्णन**—तीर्थंकरत्वनामकर्म—जिसके उदयसे अरहंत प्रभु सम्बंधित अचिन्त्य विभूति विशेष प्राप्त हो उसे तीर्थंकरत्व नामकर्म कहते हैं। यहाँ कोई शंका करता है कि जैसे तीर्थंकरत्व एक प्रकृति बतायी गई है इसी प्रकार गणधरत्व आदिक प्रकृतियाँ भी कही जाना चाहिए और उनका अर्थ यह होगा कि जिस प्रकृतिके उदय से गणधर पद प्राप्त हो वह गणधरत्वप्रकृति है। समाधान—गणधरत्व आदिक प्रकृति कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जैसे तीर्थंकरत्व नामकर्म कहलाता है उसी प्रकार उसके उदय से अचिन्त्य समवशरण आदिक विशेष विभूति प्राप्त होती है, पर गणधरत्व होना यह श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके कारण होता है। इसमें नामकर्मकी प्रकृति नहीं बनती। चक्रवर्ती आदिक होते हैं तो वे उच्चगोत्र आदिक विशेषके कारण होते हैं इसलिए गणधरत्व या चक्रवर्ती पनाके लिए नामकर्ममें कोई प्रकृति नहीं है। यहाँ शंकाकार कहता है कि जैसे उच्चगोत्र चक्रवर्ती आदिक बननेका कारण है तो वही उच्चगोत्र तीर्थंकरत्वका कारण बन जाय तो तीर्थंकरत्व नामका अलगसे कर्म न बनाना पड़ेगा। उत्तर—तीर्थंकरत्व प्रकृतिका फल है कि तीर्थकी प्रवृत्ति होती है। दिव्यध्वनि, धर्मोपदेश आदिक होना तीर्थंकर नामका फल

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है जिससे कि धर्मप्रवृत्ति होती है। लोगोंका कल्याण होता है। उच्चगोत्र भी है पर तीर्थंकर जैसा विशेष फल उच्चगोत्रका कारण होना ही पर्याप्त है। अब इस सूत्रमें जो नामके पद बनाये गए हैं सो तीन पदोंमें विभक्त किए गए। जब सभी नामकर्मके भेद हैं तब ३ पद बनानेकी क्या जरूरत थी ? सबका ही द्वन्द्व समास करके एक ही पद बना दिया जाना चाहिए था। उत्तर—इसमें जो पहला पद है वह तो पिण्ड प्रकृतिका और जिनके प्रतिपक्षभूत कोई प्रकृतियाँ नहीं हैं उन्हें मिलाकर किया गया है। दूसरे पदमें वे प्रकृतियाँ आयी हैं जिन प्रकृतियोंके प्रतिपक्षी अन्य प्रकृतियाँ हुआ करती हैं और तीर्थंकर प्रकृतियाँ हुआ करती हैं। और तीर्थंकर प्रकृतिको सबसे अलग अकेला इस कारण कहा है कि यह पुण्य प्रकृतियोंमें सर्व प्रधान प्रकृति है। जितने भी शुभ कर्म हैं उन सबमें मुख्य है तीर्थंकर प्रकृति। भला जिस तीर्थंकरका इतना माहात्म्य कि पंचकल्याणक मनाया जाय, समवशरणकी रचना हो, स्वर्गोंसे देव, देवियाँ, मनुष्य, तिर्यञ्च आदिक और अधोलोकसे भवनवासी व्यन्तरोंके इन्द्र देवतागण सब एकत्रित होकर धर्मोपदेश सुनें, हर्ष बनायें, यह एक विशेष पुण्य प्रकृति है। जगतमें जो और कोई बड़े पुण्यवान पुरुष हैं चक्रवर्ती, देवेन्द्र आदिक वे भी तीर्थंकर प्रभुके चरणोंमें शीश झुकाया करते हैं। दूसरी बात है कि तीर्थंकरप्रकृतिका उदय उनके होता है जो चरम शरीरी हैं, जो उस ही भव से मोक्ष जायेंगे, उनका भव अंतिम भव है इस कारण भी तीर्थंकरत्व प्रकृतिको अलगसे कहा गया है। इस प्रकार नामकर्मकी प्रकृतियोंका वर्णन हुआ, अब गोत्रकर्मकी प्रकृतियोंका वर्णन करते हैं।

उच्चैर्नीचैश्च ॥८-१२॥

(२६५) **गोत्रकर्मकी उत्तरप्रकृतियोंका वर्णन**—गोत्रकर्म दो प्रकारका है—(१) उच्च गोत्र और (२) नीच गोत्र। जिस प्रकृतिके उदयसे लोक पूजित कुलोंमें जन्म होवे, जैसे कि जिनकी महिमा प्रसिद्ध है ऐसे इक्ष्वाकुवंश, उग्रवंश, कुरुवंश, हरिवंश ऐसे उच्च कुलमें जन्म होवे उसे उच्च गोत्रकर्म कहते हैं। और जिस गोत्रकर्मके उदयसे निंदनीय दरिद्र, दुःखोंसे आकुल नीचवृत्ति वाले कुलोंमें जन्म हो उसे नीच गोत्रकर्म कहते हैं। गोत्र कर्मके क्या आश्रव हैं, कैसे कार्य करनेसे नीच गोत्रमें जन्म लेता है यह सब वर्णन छठे अध्यायमें किया जा चुका है। जो दूसरेके गुणोंमें हर्ष नहीं मानता, दूसरेके गुणोंको दोष रूपमें प्रकट करता अथवा उन को ढकता और अपने में गुण न भी हों तो भी संकेतसे सबको प्रकट करता है, तो ऐसी क्रियावोंसे नीच गोत्रका आश्रव होता है। तो ऐसी चेष्टा वालेको नीच गोत्रमें जन्म लेना पड़ता है, और जो दूसरेके गुणोंकी प्रशंसा अपने अवगुणोंकी निन्दा, दूसरेके गुणोंका प्रकाशन, अपने गुणों को ढाकना, ऐसी उच्च वृत्तिसे चलता है वह उच्च कुलमें जन्म लेता हैं। नारकी जीवोंके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सभीके नीच कुल कहलाता है। तिर्यञ्च गतिमें भी नीच गोत्र होता है। देवगतिमें सभीके उच्च गोत्र होता है। मनुष्यगतिमें ही कई भेद बन जाते हैं, कई उच्च कुली हैं, कोई नीच कुली हैं। तो उच्च गोत्रके उदयसे उच्च कुलमें जन्म होता और नीच गोत्रके उदयसे नीच कुलमें जन्म होता। इस प्रकार गोत्र कर्मको उत्तर प्रकृतियोंका वर्णन हुआ, अब उसके बाद कहे गए अंतराय कर्मके प्रकार बतलाते हैं।

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥८–१३॥

(२९६) **अन्तरायकर्मकी उत्तरप्रकृतियोंका वर्णन**—दान लाभ भोग उपभोग और वीर्योंका, सूत्रका अर्थ इतना ही होता है, पर अन्तरायके भेद कहे जानेसे सबके भेद पूर्ण हो चुके, अब शेष रहे अन्तरायके ये भेद हैं इसलिए अंतराय शब्द इसमें लिया जाता है। दान का अन्तराय दानान्तराय, लाभान्तराय इस तरह इन सभीको षष्ठी विभक्तिमें कह कर इसके साथ अन्तराय शब्द जोड़ा जाता है। दानान्तराय कर्मके उदयसे दान देनेकी इच्छा करते हुए भी दे नहीं सकते हैं। लाभान्तराय नामकर्मके उदयसे लाभ पानेकी इच्छा करते हुए भी लाभ नहीं पाता। भोगान्तरायकर्मके उदयसे भोगनेकी इच्छा करते हुए भी भोग नहीं भोग पाता। उपभोगान्तराय कर्मके उदयसे उपभोगकी इच्छा करते हुए भी उपभोग नहीं कर सकता। वीर्यान्तराय कर्मके उदयसे उत्साह की इच्छा करते हुए भी सत्य पूर्ण किसी कार्यको करनेका भाव रखते हुए भी उत्साह नहीं बन पाता है। ये ५ अन्तराय कर्मके नाम कहे गए। वहाँ शंका होती है कि भोगान्तराय और उपभोगान्तरायमें तो कोई फर्क न डालना चाहिए, क्यों कि भोग और उपभोगमें भी कोई विशेषता नहीं। भोगमें भी सुखका अनुभवन है और उपभोगमें भी सुखका अनुभवन है, इस कारण जब भोग और उपभोगमें कोई भेद न रहा तो इनके नाममें भी भेद न होना चाहिए। उत्तर—भोग और उपभोगमें भेद है। भोग कहते हैं उसे जो वस्तु एक बार भोगनेमें आये दुबारा भोगनेमें न आये—जैसे स्नान किया हुआ जल, भोजनपान, पुष्पमाला आदि। ये एक बार भोगे जानेपर दुबारा भोगनेमें नहीं आते, या बड़े पुरुष इन्हें दुबारा नहीं भोगते। और वस्त्र, पलंग, स्त्री, हाथी, घोड़ा, बग्घी, मोटर आदिक ये उपभोगकी सामग्री कहलाती हैं। इन्हें अनेकों बार भोगते रहते हैं। तो जब भोग और उपभोगमें अन्तर है तो इसके अन्तराय भी दो प्रकारके कहे गए हैं। यहाँ तक ८ कर्मकी प्रकृतियोंका वर्णन किया।

(२९७) **प्रकृतिबन्धके वर्णनका उपसंहार व स्थितिबन्धके वर्णनकी भूमिका**—ज्ञानावरण कर्मकी ये सभी उत्तर प्रकृतियाँ इतनी ही नहीं किन्तु संख्यात हो सकती हैं और ज्ञानावरण नामकर्म, इस जैसे कर्मोंकी प्रकृतियाँ असंख्यात भी हो जाती हैं, क्योंकि ज्ञान

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनेक वस्तुओंका होता है और स्पष्ट, अस्पष्ट आदिक विधियोंसे अनेक तरहका होता है। जितनी तरहसे ज्ञान बनता है उन ज्ञानोंका न होना यही तो ज्ञानावरण है। तो ज्ञानावरण भी उतने ही हो गए। यही बात नामकर्मके फलमें देखी जाती है। जैसे करोड़ों मनुष्योंका चेहरा एक दूसरेसे नहीं मिलता। यद्यपि नाक, आँख, कान आदि सभी मनुष्योंके करीब करीब एक परिमाणके होते हैं, उसी स्थानपर होते हैं फिर भी उनकी बनावटमें कितना भेद पाया जाता। तो उनके निमित्तभूत नामकर्म भी उतने ही हो जाते हैं। और विशेष जीवों पर दृष्टि दीजिए तो कितने ही तरहके पशुपक्षी कीट पतिंगे, कितनी ही तरहकी वनस्पतियाँ हैं, कैसे कैसे विचित्र शरीर हैं, जिस ढंगके जितने प्रकारके शरीर हैं, उनके कारणभूत निमित्त कर्म भी उतने ही हैं। यों नामकर्ममें भी असंख्यात भेद बन जाते हैं। इस प्रकार बंधके जो ४ भेद कहे गए थे उनमें प्रकृति बंधका वर्णन किया गया इसके बाद स्थितिबंधका वर्णन आवेगा सो उसमें यह जिज्ञासा होती है कि यह जो स्थिति बंध है सो जिसका लक्षण पहले कहा गया ऐसे प्रकृतिबंधसे जिसका कि भली प्रकार विस्तार बताया गया उससे क्या भिन्न कर्म विषयक स्थिति बंध है या उस ही प्रकृतिबंधके बारेमें कोई स्थितिबंध बताया जाता है अथवा प्रकृतिबंध ही स्थितिबंध है ऐसा क्या पर्यायवाची शब्द है? इस शंकाके उत्तरमें इतना ही समझना चाहिए कि जो ये प्रकृतियाँ बतलायी गई हैं ज्ञानावरणादिक कर्मोंकी, सो वे प्रकृतियां यथायोग्य समयपर आत्मासे दूर होने लगती हैं। सो जब तक वे दूर नहीं होतीं तब तकका काल कितना हुआ करता है? सो यह काल उन ही प्रकृतियोंमें बताया जाता है। तो उन ही प्रकृतियोंमें स्थितिबंधकी विवक्षा है। सो वह स्थिति किसीके उत्कृष्ट रूपसे है और किसीके जघन्य रूपसे। अर्थात् वे कर्म आत्मामें अधिकसे अधिक रहें तो कितने समय तक और कमसे कम रहें तो कितने समय तक? यों उन कर्मप्रकृतियोंमें उत्कृष्ट और जघन्यकी स्थिति बतायी जायगी। तो उनमें से सबसे पहले कर्मकी उत्कृष्ट स्थितियाँ बतायी जायेंगी। तो उसी सम्बन्धमें सबसे पहले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताने के लिए सूत्र कहते हैं

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमाकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥८-१४॥

(२९८) **ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय व अन्तरायकर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन**—प्रारम्भसे लेकर आगे तीन तक अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय तथा अन्तिम अंतराय इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ा कोड़ी सागर है। इस सूत्रमें आदितः

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शब्द देनेसे मध्यके या अन्तके कर्म न लिए जायेंगे, किन्तु प्रारम्भके ही तीन कर्म लिए जायेंगे जैसे कि अष्ट कर्मोंके नाम वाले सूत्रमें नाम दिए गए हैं। दूसरा पद दिया सूत्रमें तिसृणाम्। इस शब्दसे यह नियम बनता है कि शुरूके तीन ही लेना, जिनकी कि ३० कोड़ाकोड़ी, सागर उत्कृष्ट स्थिति बतायी जा रही है। उसके बाद पद है अंतरायस्य। इस कर्मका नाम अलगसे यों दिया गया है कि इस कर्मकी भी उन तीन कर्मोंके समान उत्कृष्ट स्थिति है। तो समान स्थिति अंतरायकी ही है उन तीन के बराबर इस कारण यहाँ अंतरायस्य शब्द दिया गया है। इस प्रकार पहले कहे गए तीन पदोंमें यहाँ चार कर्मोंका ग्रहण किया गया—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय। इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ा कोड़ी सागर है। यहाँ कोड़ाकोड़ी शब्द दिया है। कहीं दो कोटि शब्द लिखनेसे यह अर्थ न लगाना कि करोड़, करोड़ सागर है। वीप्सा अर्थ वाला यहाँ अर्थ न लगाना। यदि करोड़, करोड़ यह अर्थ इष्ट होता तो बहुवचनमें प्रयोग न होता, किन्तु यहां अर्थ है तत्पुरुष समास वाला याने कोड़ाकोड़ी, जिसका भाव है कि एक करोड़में एक करोड़का गुणा करनेपर जो लब्ध होता है उसे कहते हैं कोड़ाकोड़ी। इस तरह ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है।

(२९९) **सागरके कालका उपमाप्रमाणसे परिचय**—सागर एक बहुत बड़ा प्रमाण है जो गिनतीसे परे है। इसको उपमा देकर ही समझाया जा सकता है और इसके लिए शास्त्रोंमें उपमा दी गई है कि दो हजार कोशके लम्बे, चौड़े, गहरे गड्ढेमें बहुत कोमल बाल जिनको कैंचीसे इतने छोटे छोटे खण्ड करके भर दिए जायें कि जिनका दूसरा हिस्सा किया जाना अशक्य हो, जिससे कि वह गड्ढा खूब ठसाठस भर जाय। अब उस गड्ढेमेंसे १००—१०० वर्षमें एक एक टुकड़ा निकाला जाय। सभी टुकड़े जितने वर्षोंमें निकल पायें उतनेका नाम है व्यवहारपल्य और उससे असंख्यातगुना होता है उद्धारपल्य और उससे भी असंख्यात गुना होता है अद्धापल्य। ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका सागर होता है। ऐसे ३० कोड़ाकोड़ी सागर इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति है। यहाँ आस्था यों रखना कि समय तो अनन्त काल बीतेगा। उस अनन्तकालमें यह ३० कोड़ाकोड़ी सागर कोई आश्चर्य लायक समय नहीं है, किन्तु है गिनतीसे परे। उस समयका अंदाज करनेके लिए यह उपमा प्रमाणसे बताया गया है।

(३००) **आदिमें तीन व अन्तिम कर्मकी उत्कृष्टस्थितिका इन्द्रियजातिकी अपेक्षा विवरण**—उक्त चार कर्मोंकी यह ३० कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति उत्कृष्ट है, जघन्य नहीं है, ऐसा स्पष्ट कहनेके लिए सूत्रमें परा शब्द दिया है। सो यह उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीवोंके हुआ करती है। संसारमें तो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदिक अनेक जीव हैं पर उन सब की उत्कृष्ट स्थिति इतनी नहीं होती। यह उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवको ही है अर्थात् यह जीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय इन कर्मोंको अधिकसे अधिक स्थिति में बांधे तो इतनी स्थिति तकका कर्म बांध सकता है। फिर अन्य जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कितनी है इन चार कर्मोंके विषयकी, तो वह आगमसे जानना चाहिए। आगममें बताया गया है कि एकेन्द्रियपर्याप्त जीवोंके इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरके ७ भाग किये जा, उनमेंसे ३ भाग प्रमाण है। दोइन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति २५ सागर प्रमाण कालके ७ भाग किए जायें उनमें तीन भाग प्रमाण है। तीन इन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति ५० सागर प्रमाण कालके ७ भागमेंसे तीन भाग प्रमाण है। चौइन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति १०० सागरके ७ भागमें से तीन भाग प्रमाण है। जो असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव है उसकी उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागरके ७ भागोंमें से तीन भाग प्रमाण है। और संज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तककी उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है अर्थात् एक कोड़ाकोड़ी सागरसे कम है। एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति इसकी पर्याप्तिमें जो उत्कृष्ट स्थिति थी उससे पल्यके असंख्यातवें भाग कम है। इस प्रकार दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, अपर्याप्त और संज्ञी अपर्याप्त जीवोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है उसमें पल्यके संख्यात भाग कम है। इस प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतायी गई है। अब वेदनीय कर्मके बाद जिसका नम्बर है ऐसे मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतायी जाती है।

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥८—१५॥

(३०१) **मोहनीयकर्मके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका वर्णन**—मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर है। यह उत्कृष्ट स्थिति संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंकी है। उत्कृष्ट स्थितिका कारण संक्लेश परिणामका होना है, मोहभाव आसक्तिभावका होना है। सो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीव अतीव मोह और आसक्ति करता है उसकी इस तीव्र आसक्तिकी व्यक्तताके कारण ७० कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण मोहनीयकर्म बंध जाता है। अन्य जीवोंके मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति जैसी आगममें लिखी है सो जानना। जैसे एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके मोहनीयकर्मका उत्कृष्ट स्थिति बंध एक सागर प्रमाण होता है, दो इन्द्रिय पर्याप्तक जीवके मोहनीयकर्मका स्थिति बंध २५ सागर प्रमाण होता है, तीनइन्द्रिय पर्याप्तक जीव अधिकसे अधिक मोहनीयकर्मकी स्थिति ५० सागर प्रमाण बांधते हैं, चार इन्द्रिय पर्याप्तक जीव अधिकाधिक मोहनीय कर्मको १०० सागर प्रमाण बांधते हैं। जो पर्या-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्तक एकेन्द्रिय जीव हैं उनके जो मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण बताया है उसमें एक पल्यके असंख्यातवें भाग कमकी जाय तो इतनी उत्कृष्ट स्थिति एकेन्द्रिय अपर्याप्त की होती है। इसी प्रकार दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय या चौइन्द्रिय जीवके अपर्याप्तकोंकी उत्कृष्ट स्थिति उनके पर्याप्तमें जितनी उत्कृष्ट स्थिति थी उसमें पल्यके संख्यातवें भाग कम उत्कृष्ट स्थिति होती है। असंज्ञी पर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागर प्रमाण है और इस ही असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तकी उत्कृष्ट स्थिति पल्यके संख्यातवें भाग कम एक हजार सागर प्रमाण है। संज्ञी अपर्याप्तकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोड़ाकोडी सागर प्रमाण है। यह संसारी जीव बड़े चावसे मोह करता है, पर एक क्षणके मोहभावसे कितने विकट कर्म बँधते हैं, कितनी अधिक स्थितिके कर्म बंधते हैं, वह इस प्रकरणसे समझना चाहिये और यह शिक्षा लेना चाहिए कि हम विकारभावसे उपेक्षा करके अपने स्वभावभावका ही आदर रखें। अब मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति कह कर नाम और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं। यद्यपि मोहनीयके बाद आयुकर्मका क्रम है फिर भी उसकी उत्कृष्ट स्थिति कोड़ा-कोड़ीमें नहीं है, सो इस समानतासे सूत्रके लाघव करनेके लिए नामकर्म और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति कह रहे हैं।

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥८-१६॥

(३०२) **नामकर्म व गोत्रकर्मके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका वर्णन**—नामकर्म और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर है। यह २० कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके होती है अर्थात् संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीव नामकर्म व गोत्र कर्म के आस्रवके कारण रूप तीव्र भावोंमें रहे तो वह ज्यादहसे ज्यादह इन कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागरकी बाँधता है। एकेन्द्रिय आदिक जीवोंके नाम गोत्रकी स्थितिका बंध कितना होता है यह आगमसे जानना। जैसे एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बाँधे तो एक सागरके ७ भागमें से दो भाग प्रमाण बाँधता है। दोइन्द्रिय पर्याप्तक जीव नाम और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २५ सागरके ७ भाग में से दो भाग प्रमाण बांधता है। तीन इन्द्रियपर्याप्तक 'जीव नाम गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ५० सागरके ७ भागमें से दो भाग प्रमाण बाँधता है, चौइन्द्रिय पर्याप्तक जीव नाम गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति १०० सागरोपम कालके ७ भागमें से दो भाग प्रमाण बाँधता है। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागरोपम कालके ७ भागमें से दो भाग प्रमाण बाँधता है। संज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक अंतः कोड़ाकोड़ीके भीतरकी स्थितिको बाँधता है। एकेन्द्रिय जीव अपर्याप्तक हो तो वह उतनी उत्कृष्ट स्थिति बांधेगा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उतनी एकेन्द्रिय पर्याप्तक बाँधता था, उसमेंसे एक पल्यके असंख्यात भाग कम करके जो शेष रहे। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक असंज्ञी जीवोंकी जो स्थिति है उसमें पल्यके संख्यातभाग कम करने पर जो शेष रहे उतनी उत्कृष्ट स्थिति बँधती है।

(३०३) **स्थितिबन्धसे बद्ध कर्मोंके विपाकके प्रभावकी विधि**—यहाँ उत्कृष्ट स्थिति बंधके संबंधके वर्णनसे यह बात ज्ञात होती है कि अधिक स्थितिका कर्म बाँधनेकी सामर्थ्य संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तमें है। हम आप जिस भवमें हैं वह भव संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तका है और यहाँ कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बाँधी जा सकती है। जब कर्म अधिक स्थितिके बंधते हैं तो उसके मायने यह नहीं है कि उस पूरी स्थितिके बाद ही यह एक समयमें बद्ध पूरा कर्म उदयमें आयगा। स्थिति तो बंधी पर आबाधाकालके बाद याने थोड़े ही समयके बाद वे कर्म उदयमें आने लगते हैं, और उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण तक उदयमें आते रहते हैं। सो उसमें जितने परमाणु बँधे थे उन परमाणुमें विभाग हो जाता है कि आबाधाकालके बाद इतने परमाणु उदयमें आयेंगे, उसीके दूसरे समयमें इतने परमाणु उदयमें आयेंगे। ऐसे ही वे अंश उदयमें आते रहते हैं और उनकी परम्परा फल देनेकी संतति उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण तक चलती रहती है। ऐसा यह संसारचक्र है। सो अपने भाव प्रतिक्षण निर्मल उचित कर्तव्य वाले रखना चाहिये। अब आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं।

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥८-१७॥

(३०४) **आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका निर्देश**—आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर प्रमाण है। यहां सागरोपम लिखनेसे कोड़ाकोड़ीका अर्थ अलग हो जाता है, क्योंकि सागरोपमका तो प्रकरण ही है। पूर्व सूत्रोंसे अनुवृत्ति चली आ रही है फिर यहाँ सागरोपम देनेकी क्या आवश्यकता थी ? तो सागरोपम शब्दका ग्रहण सिद्ध करता है कि केवल ३३ सागर ही उत्कृष्ट स्थिति है। कोड़ाकोड़ी अर्थ यहाँ न लगाना। यह ३३ सागरकी उत्कृष्ट स्थितिका बंध संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त ही कर सकता है। जो मनुष्य निर्ग्रन्थ पद धारण कर समीचीन भावलिंगमें रहकर समाधिस्थ होकर आयुका क्षय करता है ऐसे जिस श्रमणने ३३ सागर प्रमाण सर्वार्थसिद्धिके देवोंमें उत्पन्न होनेकी स्थिति बांध रखी थी सो वहां उत्पन्न होता है। सभी उत्पन्न नहीं होते। जिनका जैसा परिणाम है उस परिणामके अनुसार आयुकी स्थिति बाँधते हैं। और कोई मनुष्य वज्रवृषभनाराचसंहनन वाला अधिकसे अधिक पापकर्म करे, बहुत खोटे संक्लेशभाव रखे तो वह ३३ सागर प्रमाण नरकायुका बंध करता है और वह मरकर ७वें नरकमें जाकर ३३ सागर प्रमाण नरकायुको भोगता है। तो आयुकर्मकी उत्कृष्ट

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्थितिका बंध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त ही कर सकता है। तब एकेन्द्रिय आदिक आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबंध कितना करेगा वह आगमके अनुसार समझना। आगममें बताया है कि असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तका उत्कृष्ट स्थितिबंध पल्यके असंख्यात भाग प्रमाण होता है और शेष चौइन्द्रिय आदिककी उत्कृष्ट आयु स्थितिबंध पूर्वकोटि प्रमाण होता है। अब यहाँ तक कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतायी गई है, पर यह नहीं विदित होता कि इस कर्मकी जघन्य स्थिति बँधे तो कितनी जघन्य स्थिति बँधेगी। तो कर्मकी जघन्य स्थिति बतानेके लिए सबसे पहले वेदनीयकर्मकी स्थिति कह रहे हैं।

अपरा द्वादश मूहूर्ता वेदनीयस्य ॥८-२८॥

(३०५) **वेदनीयकर्मकी जघन्य स्थिति बन्धके काल व बन्धकका परिचय**—वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति १२ मुहूर्त प्रमाण है। आयुकर्मको छोड़कर शेष कर्मोंकी जघन्य स्थितिका बँधना किसी बड़े आध्यात्मिक श्रमण संतके ही होता है। तो वेदनीय कर्मका यह जघन्य स्थिति बंध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होता है। श्रेणीपर समाधिमें बढ़े हुए श्रमण जब १० वें गुणस्थानमें पहुंचते हैं तो वहाँ पर तीन कर्मोंकी जघन्य स्थिति बँध पाती है बाकी तो संसारी जीवोंकी अधिक-अधिक स्थिति ही बँधती है। वेदनीय कर्मका स्थिति बंध १० वें गुणस्थानके बाद समाप्त भी हो जायगा। यद्यपि आश्रव चलेगा जिसे ईर्यापथाश्रव कहो अथवा कहो प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध, चलेगा, पर वेदनीय कर्ममें स्थितिबंध न बनेगा। इस कारण जो आखिरी ऐसे गुणस्थान हैं कि जिनके बादमें कर्मोंकी स्थिति बँधेगी वहाँ ही जघन्य स्थितिबंध सम्भव है। अब नामकर्म और गोत्रकर्मकी जघन्य स्थिति बताते हैं।

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ ८-१६ ॥

(३०६) **नामकर्म व गोत्रकर्मके जघन्य स्थितिबन्धका परिचय**—नामकर्म और गोत्रकर्मका जघन्य स्थितिबंध ८ मुहूर्तका है। यह जघन्य स्थितिबंध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होता है। १०वें गुणस्थानके बाद क्षपक श्रेणी वाला मुनि १२वें गुणस्थानमें पहुंचता है या उपशम श्रेणीका हो तो वह ११वें गुणस्थानमें पहुंचेगा। लेकिन १०वें गुणस्थानसे ऊपर कर्मकी स्थिति नहीं बँधती। अतः जघन्य स्थिति १०वें गुणस्थानमें ही सम्भव है। तो शेष बचे हुए सर्व कर्मोंकी स्थिति जघन्य स्थिति एक सूत्रमें बतायी जा रही है।

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥८-२०॥

(३०७) **ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयुकर्म व अन्तरायकर्मके जघन्य स्थितिबन्धका वर्णन**—अभी तक वेदनीय, नामकर्म और गोत्र नामकर्मकी जघन्य स्थिति कही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गई। इन तीन कर्मोंको छोड़कर शेष ५ कर्म बचे। उनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। जैसे—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म, इनका जघन्य स्थितिबंध सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानमें होता है। स्थितिबंध तो १०वें गुणस्थानसे ऊपर किसी कर्मका होता ही नहीं है, क्योंकि ऊपरके गुणस्थानोंमें ईर्यापथाश्रव होता है। तो इन तीन कर्मोंका जघन्य स्थितिबंध १० वें गुणस्थानमें होता है। मोहनीयकर्मका जघन्य स्थिति बंध ९ वें गुणस्थान में होता है। इसका कारण यह है कि मोहनीयकर्मकी अंतिम शेष प्रकृति संज्वलन लोभ है, वह १० वें गुणस्थानके अन्तमें समाप्त हो जायगी, इस कारण १० वें गुणस्थानमें इसका स्थितिबंध नहीं बन पाता। सो मोहनीयकर्मका जघन्य स्थिति बंध ९ वें गुणस्थानमें सम्भव है। आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त प्रमाण तिर्यंच और मनुष्योंमें ही बंधता है अर्थात् तिर्यंचायुका जघन्य स्थिति बंध अन्तर्मुहूर्त बन जाता है, ऐसे ही मनुष्यायुका भी जघन्य स्थितिबंध अन्तर्मुहूर्त बनता है, पर ऐसे तिर्यंच और मनुष्य कर्मभूमिया ही होंगे, जिनकी संख्यात वर्षकी आयु होती है। ऐसे तिर्यंच, मनुष्योंमें ही यह नवीन स्थिति बंध सम्भव है। लब्ध्यपर्याप्तक जीव भी होते हैं, उनकी आयुकी जघन्य स्थिति एक श्वांसमें १८ भाग प्रमाण होती है। इस प्रकार कर्मकी स्थिति बंधका प्रकरण समाप्त हुआ। यहाँ तक प्रकृतिबंध और स्थितिबंधका वर्णन किया। अब क्रम प्राप्त अनुभवबंधका वर्णन करते हैं, इसका दूसरा नाम अनुभाग बन्ध है।

विपाकोऽनुभवः ॥ ८-२१ ॥

(३०८) **कर्मप्रकृतियोंके अनुभागबन्धका वर्णन**—नाना प्रकारका जो विपाक है उसे अनुभव कहते हैं। ज्ञानावरणादिक कर्मप्रकृतियोंका अनुग्रह और घात करने वाली बनाना, उनके तीव्र मंद भावके कारण विशिष्ट फलदान शक्ति बनना अनुभाग कहलाता है। अथवा इस कर्मप्रकृतिके उदयमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप निमित्तके भेदसे नाना प्रकारका फल बने उसे विपाक कहते हैं। इस ही का नाम अनुभव है। शुभ परिणाम होनेसे शुभ प्रकृतियों में अनुभाग विशेष पड़ता है। शुभ परिणाम यदि उत्कृष्ट हो तो सभी प्रकृतियोंका अनुभाग उत्कृष्ट होता है। यदि शुभ भावकी प्रकर्षता हो तो अशुभ प्रकृतियोंमें अधिक अनुभाग पड़ता है। अशुभ भावमें मंदतासे कम अनुभाग अशुभ प्रकृतियोंसे होता है। यद्यपि शुभ परिणाम होते हुए भी अशुभ प्रकृतियाँ भी बँधतीं, फिर भी विशुद्ध परिणाम होनेपर अशुभ प्रकृतियोंमें अनुभाग कम होता है और शुभ प्रकृतियोंमें अधिक होता है। इसी प्रकार अशुभ परिणाम होनेपर अशुभ प्रकृतियोंमें अनुभाग अधिक होता है और शुभ प्रकृतियोंमें अनुभाग कम होता है। यह अनुभाग बंध दो तरहसे प्रवर्तित होता है—(१) स्वमुखसे और (२) परमुखसे।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सभी मूल प्रकृतियाँ स्वमुखसे ही फल दिया करती हैं अर्थात् ज्ञानावरणप्रकृति ज्ञानका आवरण करनेरूप फल देती है। दर्शनावरण दर्शनका आवरण करनेरूप फल देती है। इसी प्रकार अन्य सब मूल प्रकृतियोंमें जानना। यहाँ ऐसा न होगा कि कभी ज्ञानावरण कर्म दर्शनावरण आदि अन्य कर्मोंके रूपसे फलदान करने लगे। उत्तरप्रकृतियोंमें जो समान जाति वाली प्रकृतियाँ हैं उनका तो प्राय: स्वमुखसे उदय होता ही है, किन्तु परमुखसे भी उदय होता है। हाँ आयुकर्म दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयका परमुखसे कभी फल नहीं होता। कभी ऐसा न हो सकेगा कि तिर्यंग्आयु अन्य आयुके रूपसे फल देने लगे अथवा मनुष्यायु आदिक कोई भी आयु अन्य रूपसे फल देने लगे, ऐसा आयुकर्ममें नहीं होता। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीयके रूपसे भल देने लगे या चारित्रमोहनीय दर्शनमोहनीय जैसा फल देने लगे यह न होगा। केवल इन प्रकृतियोंको छोड़कर अन्य समान जाति वाली प्रकृतियाँ परमुखसे भी उदित हो जाती हैं। अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि पहले जिन कर्मोंका बंध किया था उनका नाना प्रकारसे फल मिलना, फल देनेकी शक्ति आना, यह अनुभव बंध है। यह तो जाना परंतु यह जाननेमें नहीं आता कि यह अनुभव बंध किस-किस प्रकारका होता है और कितनी संख्यावों में होता है ? इसका समाधान यह है कि वह संख्यात रूपमें होता है और विशेष सूक्ष्म रूपसे देखें तो अनगिनते रूपमें होता। फिर भी जैसा कि उल्लेख है, जहाँ तक निमित्त मिलता है उसके अनुसार किस रूपमें अनुभागबंध होता है उसका वर्णन सूत्रसे करते हैं।

स यथानाम ॥८-२२॥

(३०९) **बद्ध प्रकृतियोंके विपाकके व्यक्त होनेकी मुद्रा**—ज्ञानावरणका फल ज्ञानका अभाव करना है, दर्शनावरणका फल दर्शनकी शक्तिको रोकना है, वेदनीयका फल साता असातारूप परिणाम होना है। इस प्रकारसे जिस प्रकृतिका विपाक बताना हो उस प्रकृतिका जैसा नाम है वैसा ही अनुभाग होता है। तो यहाँ तक यह बात आयी कि जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणमती हैं उनमें प्रकृतिबंध, स्थिति बंध, अनुभागबंध उक्त प्रकारसे होता है। अब रहा प्रदेशबंध, उसका वर्णन आगे होगा, पर संक्षेपमें यह जानना कि जो भी परमाणु बंधे हैं वे ही तो प्रदेशबंध कहलाते हैं। सर्व प्रकृतियाँ १४८ कही गई हैं। उनमें सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन दो प्रकृतियोंका बंध कभी नहीं होता। फिर इनकी सत्ता कैसे होती है ? तो प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो उस प्रथमोपशम सम्यक्त्व परिणाम के बलसे उसके प्रथम क्षणमें ही मिथ्यात्वके खण्ड हो जाते हैं। सो सत्तामें पड़े हुए मिथ्यात्व कुछ सम्यग्मिथ्यात्वरूप बन जाते, कुछ सम्यक्प्रकृतिरूप बन जाते और कुछ मिथ्यात्व ही रह जाते। जैसे चक्कीमें उड़द, मूंग, चने आदि दले जायें तो कुछ दाने तो एकदम चूरा बन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जाते, कुछ दाल बनते और कुछ साबुत दानेके दाने निकल जाते इसी तरह सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिकी सत्ता बनती है। बंध १४६ का ही होता है। अब उसका वर्णन करने की दिशामें कुछ संक्षेप किया जाता है अर्थात् ५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात ये एक ही नामके हैं जैसा कि नामकर्मकी प्रकृतियोंमें बताया है। अतएव उन १५ का संक्षेप करके ५ में ले लिया। ५ बंधन और ५ संघातका अन्तर्भाव ५ शरीरोंमें कर लिया, इस तरह १० तो ये घट गए और स्पर्श ८, रस ५, गंध २ और वर्ण ५, इस प्रकार ये २० प्रकृतियां हैं। इन २० प्रकृतियोंका ग्रहण सामान्य स्पर्श, रस, गंध, वर्णमें मूल ४ हो जानेसे १६ प्रकृतियां ये घट गईं। १६ और १० यों कुल २६ प्रकृतियां कम गणनामें लेनेसे १२० प्रकृतियां बंध योग्य होती हैं।

(३१०) **सम्यक्त्वरहित गुणस्थानोंमें ओघालापसे बन्धका विवरण**—बन्धयोग्य १२० प्रकृतियोंमें प्रथम गुणस्थानमें ११७ प्रकृतियोंका बंध होता है। इसका कारण यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियोंका बंध करनेकी योग्यता नहीं रखते, क्योंकि ये प्रकृतियां प्रशस्त हैं इसलिए इन तीनका बंध पहले गुणस्थानमें नहीं है। हां आगेके गुणस्थानोंमें हो सकेगा, ३ कम करनेसे मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियोंका बंध होता है, दूसरे गुणस्थानमें तीन तो ये ही प्रकृतियां नहीं बँधती, इस प्रकार १६ प्रकृतियां न बंधनेसे दूसरे गुणस्थानमें १०१ प्रकृतियोंका बँध होता है। यहां यह विशेष जानना कि जो तीन प्रकृतियां नहीं बँध रहीं यहां पर वे आगे बँध सकेंगी, किन्तु १६ प्रकृतियां जो यहां नहीं बँध रहीं वे आगे भी कभी किसी गुणस्थानमें न बँधेंगी, इसी कारण उन १६ प्रकृतियोंकी बंध व्युच्छित्ति पहले गुणस्थानमें कही गई है अर्थात् मिथ्यात्व हुण्डक, नपुंसक, अन्तिम संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रियजाति, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, नरकायु इन १६ प्रकृतियों के बंधका नियोग प्रथम गुणस्थानमें होता है याने पहले गुणस्थानमें तो बँधती है, आगे न बँधेगी। तो इस प्रकार जिस गुणस्थानमें जितनी प्रकृतियोंकी बंध व्युच्छित्ति कही जाय उसका अर्थ यह है कि आगेके गुणस्थानोंमें वे प्रकृतियां न बँधेंगी। यहां दूसरे गुणस्थानमें २५ प्रकृतियोंकी बंध व्युच्छित्ति होती है। वे २५ प्रकृतियां ये हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, दुर्भग दुस्वर, अनादेय, ६ संस्थानोंमें से बीचके चार संस्थान, ६ संहननोंमें से बीचके ४ संहनन। अप्रशस्त विहायोगति—स्त्रीवेद, नीच गोत्र तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उद्योत, तिर्यगायु, इन २५ प्रकृतियोंका बंध तीसरे गुणस्थानमें नहीं है और पहले तीर्थंकर आदिक तीन प्रकृतियोंका भी नहीं है, और इसके अतिरिक्त इन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गुणस्थानोंमें चूँकि किसी भी आयुका बंध नहीं होता, सो नरकायु, तिर्यंगायु पहले दूसरे गुणस्थानमें बंधसे व्युच्छिन्न हैं सो नरकायु, तिर्यंगायु तो पहले दूसरे गुणस्थानमें बंधसे व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियोंमें शामिल है। शेष दो आयु मनुष्यायु और देव आयु इनका बंध नहीं होता। इस प्रकार दूसरे गुणस्थानमें बँधने वाली १०१ प्रकृतियोंमें से २७ प्रकृतियाँ घट जाने से ७४ प्रकृतियोंका बंध होता है। गुणस्थान गुणोंके विकाससे आगे बढ़ते जाते हैं। तो जितना जितना विकास होता है उतनी ही प्रकृतियोंका बंध कम हो जाता है।

(३११) **सम्यग्दृष्टि जीवोंमें ओघालापसे बन्धका विवरण**—चौथे गुणस्थानमें अब तीर्थंकर प्रकृति बँधने लगी तथा मनुष्यायु, देवायु बँधने लगी तो तीसरे गुणस्थानमें बँधने वाली ७४ प्रकृतियोंमें ३ बढ़ानेसे ७७ प्रकृतियोंका बंध होता है। ५वें गुणस्थानमें १० प्रकृतियाँ जो कि चतुर्थ गुणस्थानमें बँधसे हट जाती हैं उनको कम करनेसे ६७ प्रकृतियोंका बंध होता है। चौथे गुणस्थानमें बन्धव्युच्छिन्न प्रकृतियाँ ये हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, वज्रवृषभनाराचसंहनन, प्रथम संहनन, औदारिकशरीर, औदारिकाङ्गोपांग, मनुष्यगति व आनुपूर्वी तथा मनुष्यायु। छठे गुणस्थानमें ४ प्रकृतियां और घट जाती हैं जिनकी बंधव्युच्छित्ति ५वें गुणस्थानमें होती है। वे ४ प्रकृतियां हैं– प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। इनके हटनेसे महाव्रत हुआ करता है। अब छठे गुणस्थानमें बंध व्युच्छित्तिकी ६ प्रकृतियाँ घटनेसे तथा आहारक शरीर, आहारक अङ्गोपांग बंधमें बढ़ जानेसे यहां ५९ प्रकृतियोंका बन्ध होता है। ८वें गुणस्थानमें देवायुप्रकृतिका बंध नहीं होता, इसकी व्युच्छित्ति ७वें गुणस्थानमें हो जाती है, अतः ५८ प्रकृतियोंका बन्ध होता है। ८वें गुणस्थानमें ३६ प्रकृतियां बंधसे अलग हो जाती हैं। उन्हें घटानेसे ९वें गुणस्थानमें २२ प्रकृतियोंका बन्ध होता है। आठवें गुणस्थानमें बन्धव्युच्छिन्न ३६ प्रकृतियां ये हैं– निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पञ्चेन्द्रिय, तैजसद्विक, आहारकद्विक, समचतुरस्र संस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, वैक्रियक शरीर, वैक्रियकाङ्गोपाङ्ग, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, वादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर व आदेय, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा। ९वें गुणस्थानमें क्रमशः ५ प्रकृतियोंकी बंध व्युच्छित्ति होती हैं। पुरुषवेद, संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान, संज्वलनमाया व संज्वलन लोभ। इनके घटानेसे १०वें गुणस्थानमें १७ प्रकृतियोंका बन्ध होता है। १०वें गुणस्थानमें १६ प्रकृतियां बन्धसे व्युच्छिन्न हो जाती हैं, वे १६ प्रकृतियाँ हैं—५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय, ४ दर्शनावरण, यशकीर्ति और उच्चगोत्र। इनके हट जानेसे ११वें गुणस्थानमें सिर्फ एक प्रकृतिका बन्ध होता है अर्थात् साता वेदनीयका बन्ध होता है। १२वें गुणस्थानमें भी एक साता वेदनीयका बन्ध होता है।

http://sahjanandvarnishastra.org/

१३वें गुणस्थानमें भी एक साता प्रकृतिका बन्ध होता है। इसका बन्ध व्युच्छेद १३वें गुणस्थानमें हो जाता है। अतः १४वें गुणस्थानमें कोई भी प्रकृति नहीं बँधती। ये बँधी हुई प्रकृतियां अपनी स्थिति रखती हैं और अपनी स्थितिपर्यन्त जीवके साथ रहती हैं। जब उनकी स्थिति पड़ी हुई है तो वे कर्मप्रकृतियाँ आत्मासे अलग हो जाती हैं। ऐसे अलग होने का नाम उदय है और इसीको निर्जरा भी कहते हैं। उसीका वर्णन करते हैं कि स्थिति पूरी होनेपर फिर इन प्रकृतियोंका क्या होता है?

ततश्च निर्जरा ॥७-२३॥

(३१२) **साधारण निर्जराका वर्णन**—पहले बँधी हुई कर्म प्रकृतियोंके परित्यागका नाम निर्जरा है, जिन कर्म प्रकृतियोंका बँध हुआ था वे अन्तमें निकलते समय आत्माको पीड़ा अथवा अनुग्रह देकर आत्मासे झड़ जाती है अर्थात् वे कर्मरूप नहीं रहतीं। जैसे कि जो भी भोजन किया वह भोजन अपनी स्थिति तक पेटमें रहता है, पीछे निकलकर निःसार हो जाता है, मलरूपमें अलग हो जाता है इसी तरह कर्मप्रकृतियाँ स्थितिको पूर्ण करने पर फल दे करके निःसार हो जाती हैं। वह निर्जरा दो प्रकारकी कही गई—(१) विपाकजा और (२) अविपाकजा। इस संसार मोहसमुद्रमें जहाँ चारों गतियोंमें जीव भ्रमण कर रहा है उस परिभ्रमण करने वाले जीवके शुभ और अशुभ कर्मका विपाक होने पर या उदीरणा होनेपर वह फल दे करके झड़ जाय इसको कहते हैं विपाकजा निर्जरा। जैसी भी उन कर्मोंमें फलदान शक्ति है, सातारूप हो, असातारूप हो उसके उस प्रकारसे अनुभाग किये जाने पर स्थितिके क्षयसे वे सब कर्म झड़ जाते हैं। सो यह विपाकजा निर्जरा संसारी जीवोंके अनादिकालसे चल रही है। इस निर्जरासे तो इस जीवने कष्ट ही पाया, इससे इसको मुक्तिका मार्ग नहीं मिल पाता। दूसरा है अविपाकजा निर्जरा। किसी कर्मप्रकृतिकी स्थिति तो पूरी नहीं हो रही, परस्थिति पूरी होने से पहले ही ज्ञानबलसे, पुरुषार्थसे, तपश्चरणसे उस प्रकृति को ही उदीरणामें लेकर उदयावलिमें प्रवेश कराकर उसका फल जब भोगा जाता है तो वह अविपाकजा निर्जरा कहलाती है। जैसे आमका फल अपनी स्थिति पर स्वयं डालमें पक जाता है किन्तु किसी आम्रफलको पकने से पहले ही गिरा दिया जाय और उसे भूसा, मसाला आदिमें रखकर पका लिया जाय तो पहले ही पका दिया, इसी प्रकार कर्मप्रकृतियाँ पहले ही खिरा दी गईं, इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं।

(३१३) **प्रकृतसूत्रसम्बन्धित कुछ शब्दानुशासित तथ्योंपर प्रकाश**—इस सूत्रमें च शब्द दिया है जिससे दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि निर्जरा स्थिति पूर्ण होनेपर भी होती है और तपश्चरण आदिकके बलसे भी होती है। यहाँ शंकाकार कहता है कि ९ वें अध्यायमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सम्वरके प्रकरणमें सूत्र आयगा निर्जरा बताने वाला। सूत्रमें यह भी जोड़ दिया जाय अथवा संबर यहाँ शब्द जोड़ दिया जाय तो एक सूत्र न बनाना पड़ेगा। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यहाँ इस सूत्रमें लिखनेसे लाघव होता है। अगर आगे इस निर्जरा शब्दमें ग्रहण करते तो वहाँ फिरसे विपाकोनुभवः इतना शब्द और लिखना पड़ता। यहां शंकाकारका एक अभिप्राय यह है कि जैसे पुण्य और पापका पृथक् ग्रहण नहीं किया, क्योंकि पुण्य और पापका बंधमें अन्तर्भाव कर लिया, उसी प्रकार निर्जराका भी बंधमें अन्तर्भाव कर लिया जाय अर्थात् अनुभव-बंधमें निर्जराका अन्तर्भाव कर लिया जाय तो निर्जराका फिर पृथक् ग्रहण न करना पड़ेगा। इसका समाधान यह है कि यहाँ अनुभवका अभी शङ्काकारने अर्थ नहीं समझा। फल देनेकी सामर्थ्यका नाम अनुभव है, और फिर अनुभव किया गया पुद्गलका जिनमें कि शक्ति पड़ी थी, उनकी निवृत्ति हो जाना निर्जरा है। अनुभवमें और निर्जरामें अर्थभेद है, इसी कारण सूत्रमें ततः शब्द दिया है पंचमी अर्थमें, अर्थात् अनुभवसे फिर निर्जरा होती है। यहाँ शंकाकार कहता है कि लाघवके लिए इस ही सूत्रमें तपसा शब्द और डाल दिया जाय तो सूत्र बन जायगा ततोनिर्जरा तपसा च और फिर आगे सूत्र न कहना पड़ेगा। समाधान—सूत्र दोनों जगह कहना आवश्यक है। यहां तो विपाक भोगनेकी मुख्यतासे वर्णन चल रहा है। कर्म उदयमें आये, स्थिति पाकर झड़े, फल देकर निकले, इसका नाम निर्जरा है। साथ ही तपसे भी निर्जरा होती है, ऐसा बतानेके लिए च शब्द जोड़ दिया और ९ वें अध्यायके संवर के प्रकरणमें जो तपसा निर्जरा च सूत्र आया है उसकी मुख्यता संबरमें है। तो तपसे संबर होता है और निर्जरा भी होती है। तो संबरकी प्रधानता बतानेके लिए वहां भी सूत्र कहना आवश्यक है।

(३१४) **नवम अध्यायके संबर प्रकरणमें निर्जरासंबधित सूत्रको पृथक् कहनेके तथ्योंपर प्रकाश**—यहां फिर शंका होती है कि आगे क्षमा, मार्दव आदिक दस लक्षणधर्म कहे गए हैं, उनमें तप भी आया है। उत्तम तप भी तो धर्मका अंग है और तपमें ध्यान आता है सो यह उत्तम तप संवरका कारण हो गया, सो आगे खुद कहेंगे। तो तपसे संवर होता है यह बात अपने आप उससे ही सिद्ध हो जायगी। और यहाँ जो सूत्र बनाया है सो निर्जराका कारण बताया है कि निर्जरा सविपाक निर्जरा अविपाक निर्जरा दो प्रकारकी होती है—फल देकर झड़े वह भी निर्जरा है। तो वह सब बात युक्तिसे ठीक हो जाती है। शंका—तब आगे ९वें अध्यायमें तपका ग्रहण करना निरर्थक है। उत्तर— कहते हैं कि वहां पुनः तप का ग्रहण करके पृथक् सूत्र बनाया सो प्रधानता बतानेके लिए बनाया गया। जितने संवर और निर्जराके कारण हैं उन सब कारणोंमें तप प्रधान कारण है। क्षमा, मार्दव आदिक सभी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कारण बताये गए । गुप्ति, समिति आदिक सभी बताये गए हैं मगर संवरके कारणोंमें तपकी प्रधानता है और तब ही रूढ़िमें भी यही बात है कि तपश्चरण करनेसे मोक्ष होता है। संवर होता है, निर्जरा होती है इसी कारण इस प्रकृत सूत्रमें तपका शब्द रखने से गारव हो जाता है याने शब्द अधिक बढ़ जाते हैं। जरूरत नहीं होती इसलिए इस सूत्रमें तप शब्द को ग्रहण नहीं किया किन्तु च शब्दसे तपको गौणरूपमें लिया, क्योंकि यह अनुभाग बंधका प्रकरण है।

(३१५) **घातिया कर्मकी प्रकृतियोंकी मूल विशेषतावोंका वर्णन**—वे कर्मप्रकृतियाँ दो प्रकारकी होती हैं—(१) घातिया कर्म, (२) अघातिया कर्म। जो आत्माके गुणोंको पूरी तरहसे घात दे सो तो घातियाकर्म है और जो गुणोंको तो न घाते किन्तु गुणोंके घातने वाले कर्मके सहायक बनें, नोकर्म सत् बनें उन्हें अघातिया कर्म कहते हैं। घातिया कर्म ४ हैं—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय और (४) अन्तराय। ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञानगुणको घातता है। दर्शनावरण आत्माके दर्शन गुणको घातता है। मोहनीय कर्म आत्माके सम्यक्त्व गुण व सम्यक्चारित्र व आनन्द गुणको घातता है। अन्तरायकर्म आत्मा की दान आदिक शक्तियोंका उपघात करता है। घातियाकर्म भी दो प्रकारके हैं—(१) सर्वघाती और (२) देशघाती। सर्वघाती प्रकृतियाँ उन्हें कहते हैं जिनके उदयसे उस गुणका पूरा घात हो जिस गुणका आवरण करने वाला सर्वघाती है। ये सर्वघाती प्रकृतियाँ २० होती हैं—केवलज्ञानावरण—यह प्रकृति केवलज्ञानका घात करती है। निद्रानिद्रा— इस प्रकृतिके उदय से दर्शनगुणका घात होता है। प्रचलाप्रचला— स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला, केवलदर्शनावरण—इन प्रकृतियोंके उदयसे आत्माके दर्शनगुणका घात होता है। १२ कषायें— अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, ये १२ प्रकृतियां सर्वघाती हैं। अनन्तानुबन्धीके उदयसे सम्यक्त्व गुणका घात होता है और पूरा ही घात होता है तब ही सर्वघाती हैं याने रंच भी सम्यक्त्व प्रकट नहीं हो सकता। अप्रत्याख्यानावरणके उदयमें अणुव्रतका घात होता है। रंच भी अणुव्रत नहीं हो सकता। प्रत्याख्यानावरणके उदयमें महाव्रतका घात होता है अर्थात् रंच भी महाव्रत नहीं हो सकता, और दर्शनमोहनीय भी सर्वघाती प्रकृति है, इससे सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं होता। इस प्रकार सर्वघाती प्रकृतियां २० हैं— देशघाती प्रकृति इस प्रकार है। ज्ञानावरणकी ४, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण, इनका क्षयोपशम होता है और क्षयोपशमके समय वह ज्ञान व्यक्त होनेसे रह जाता है, परन्तु कुछ रहता है, क्योंकि यह सर्वघाती प्रकृति नहीं है। दर्शनावरणकी तीन प्रकृतियाँ—चक्षुदर्श-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण, इनके क्षयोपशममें कुछ ज्ञान होता है कुछ नहीं रहता। अन्तरायकी ५ प्रकृतियां इनका क्षयोपशम होता है। कुछ दानशक्ति प्रकट है कुछ नहीं प्रकट है, कुछ लाभशक्ति प्रकट है कुछ नहीं, इस कारण वे देशघाती संज्वलनकी चार कषायें, इनके रहते हुए संयम नहीं बिगड़ता, फिर भी संयममें कमी रहती है जिससे यथाख्यातचारित्र नहीं बनता। ९ नो कषाय ये भी देशघाती प्रकृति हैं। इनके कालमें भी कुछ ज्ञान रहता, कुछ नहीं रहता। ये घातियाकर्मकी प्रकृतियां हैं।

(३१६) **अघातिया कर्मोंकी प्रकृतियोंकी मूल विशेषतायें**—घातिया प्रकृतियोंके सिवाय शेष बची सब अघातिया कर्मकी प्रकृतियां हैं। वहां यह विभाग जानना चाहिए कि कुछ नामकर्मकी प्रकृतियां पुद्गलमें फल देती हैं और उनको पुद्गल विपाकी प्रकृति कहते हैं। ऐसी प्रकृति शरीर नामकर्मसे लेकर स्पर्श पर्यन्त तो पिण्ड प्रकृतियां हैं। शरीर, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श ये नामकर्मकी प्रकृतियां पुद्गलविपाकी हैं याने इनके उदयमें फल पुद्गलपर पड़ता है याने कुछ प्रभाव पुद्गलपर आता है। शरीरनामकर्मके उदयसे शरीरकी ही तो रचना हुई, पुद्गलमें ही तो फल मिला। ऐसे ही सबका अर्थ समझिये—और उनके अतिरिक्त अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, प्रत्येकवनस्पति, साधारण वनस्पति, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ निर्माणनामकर्म, ये सब पुद्गलविपाकी प्रकृतियां हैं, इनका असर पुद्गलमें होता है। कर्मप्रकृतियोंमें क्षेत्रविपाकी प्रकृतियां चार हैं—(१) आनुपूर्वी वाली, क्योंकि आनुपूर्वीके उदयमें विग्रहगतिमें पूर्ण आकार रहता है। तो मरणके बाद जन्म लेनेके पहले जो विग्रहगतिका क्षेत्र है उस क्षेत्रमें इसका फल मिला कि पूर्व शरीरके आकार रहे। आयुकर्म भवविपाकी प्रकृति है। नरकायुके उदयमें नरकभवमें उत्पन्न होता, तिर्यक् आयुके उदयमें तिर्यंच भवमें उत्पन्न होता, ऐसे ही सबकी बात जानना। चूंकि भवपर प्रभाव करने वाली हैं ये प्रकृतियां, इस कारण चारों आयुकर्म भवविपाकी प्रकृति हैं। कुछ प्रकृतियां जीवविपाकी हैं याने जीवमें फल देनेके कारणभूत हैं। जैसे गति, जाति इनमें उत्पन्न होनेसे जीव अपने आपमें ही कमजोरी महसूस करता और अपनेमें ही अपना अनुरूप भाव करता है। सो ये जीवविपाकी प्रकृतियां हैं। इस तरह अनुभाग बंधका वर्णन किया।

(३१७) **सम्यक्त्वरहित गुणस्थानोंमें उदययोग्य प्रकृतियोंका निर्देश**—अनुभागबंधसे बँधी हुई प्रकृतियाँ अपनी स्थिति पूर्ण करनेपर या कदाचित् पहले उदयमें आनेपर इनका फल मिलता है, जिसे कहते हैं कर्म उदयमें आयेंगे और फल मिलेगा। सो इन १४८ प्रकृतियोंका भी उदय हो सकता है, एक साथ सबका उदय नहीं होता, क्योंकि अनेक प्रकृतियां सप्रतिपक्ष हैं। अब उन १४८ प्रकृतियोंमें १० तो बँधन और संघातके गर्भित किया और २० स्पर्शादिक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकृतियोंमें ४ मूल रखकर १६ ये कम किया तो यों २६ कम हो जानेसे उदय योग्य प्रकृतियों की गणना, चर्चा १२२ प्रकृतियोंमें की जाती है। इन १२२ उदययोग्य प्रकृतियोंमें इस प्रथम गुणस्थानमें ११७ प्रकृतियोंका उदय रहता है। जब मिथ्यादृष्टि कहा तो सभी प्रकारके मिथ्यादृष्टि ग्रहण कर लेते, चाहे वे यथासंभव किसी मार्गणाके हों, प्रथम गुणस्थानमें तीर्थंकर आहारक शरीर, आहारक अंगोपाङ्ग, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति इन ५ प्रकृतियोंका उदय नहीं होता। इसके आगे उदय हो सकेगा, इसलिए इसको अनुदयमें शामिल किया। और पहले गुणस्थानमें ५ प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति होती है। वे ५ प्रकृतियाँ हैं—मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण। इनका अब इसके आगेके किसी भी गुणस्थानमें उदय न हो सकेगा। अतएव इसका नाम है उदयव्युच्छित्ति। यहाँ एक बात और विशेष समझना कि प्रायः जिस गुणस्थानमें जिन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं कहा गया तो मरकर वह जिस गतिमें न जायगा वैसा उदय न आ पायगा, ऐसा समन्वय होता है। तो प्रथम गुणस्थानके उदययोग्य ११७ प्रकृतियोंमें पहले ५ अनुदयकी और ५ उदयव्युच्छित्तिके हटनेसे तथा नरकगत्यानुपूर्वी का उदय न होनेसे ११ प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं। इस प्रकार दूसरे गुणस्थानमें १११ प्रकृतियोंका उदय होता है। दूसरे गुणस्थानमें ९ प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति होती है। वे ९ प्रकृतियां हैं— अनन्तानुबंधी चार, एकेन्द्रिय, स्थावर, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय इनका उदय आगेके गुणस्थानोंमें न आयगा। इससे सिद्ध है कि इसका उदय दूसरे गुणस्थानसे रहता है। तब ही तो एकेन्द्रिय जीवके दो गुणस्थान बताये गए। भले ही पञ्चेन्द्रिय जीव दूसरे गुणस्थानमें मरकर एकेन्द्रियमें जाय तो उसके अपर्याप्तमें दूसरा गुणस्थान मिलेगा, पर मिला तो सही। यही बात दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीवोंमें अपर्याप्त अवस्थामें इसका दूसरा गुणस्थान हो सकता है। मिश्रमें दूसरे गुणस्थानमें उदय वाली १११ प्रकृतियोंमें से ९ प्रकृतियां कम हो गईं तब १०२ बचनी चाहिएँ, लेकिन तीसरे गुणस्थानमें किसी भी आनुपूर्वीका उदय नहीं होता, क्योंकि इस गुणस्थानमें मरण नहीं है, अतएव आनुपूर्वी तो तीन कम हो गए। नरकगत्यानुपूर्वी अनुदयके कारण दूसरेके गुणस्थानमें भी न थी और सम्यग्मिथ्यात्वका उदय बन गया। इस प्रकार १०० प्रकृतियां तीसरे गुणस्थानमें उदयमें रहती हैं।

(३१८) **प्रमत्त सम्यग्दृष्टियोंमें उदययोग्य प्रकृतियोंका निर्देश**—तीसरे गुणस्थानमें उदयव्युच्छित्ति एक सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिकी होती है तो १०० में एक कम करनेसे ९९ हुए और यहाँ चार आनुपूर्वी व सम्यक्प्रकृतिके उदयमें आने लगे, इस तरह ५ प्रकृतियाँ उदयमें बढ़ जानेसे १०४ प्रकृतियाँ हो जाती हैं। चौथे गुणस्थानमें १७ प्रकृतियोंका उदयव्युच्छेद होता है। वे १७ प्रकृतियाँ ये हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, वैक्रियक शरीर,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वैक्रियक अंगोपाङ्ग, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, देवायु, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, और अयशकीर्ति। तो चौथे गुणस्थानके उदय वाली उन १०४ प्रकृतियोंमें से १७ कम हो जानेसे ८७ प्रकृतियोंका उदय ५वें गुणस्थानमें होता है। ५वें गुणस्थानमें उदय व्युच्छेद ८ प्रकारका है, वह है प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यगायु, उद्योत, नीच गोत्र, तिर्यग्गति। यों ५वें गुणस्थानकी ८७ उदय वाली प्रकृतियोंमें से ८ प्रकृतियां घट जानेसे तथा आहारककी दो उदय होनेसे ८१ प्रकृतियोंका उदय होता है।

(३१९) **प्रमादरहित गुणस्थानोंमें उदययोग्य प्रकृतियोंका निर्देश**—छठे गुणस्थानमें उदयव्युच्छेद ५ प्रकृतिका है, वह है आहारकशरीर, आहारक अंगोपांग, स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचलाप्रचला। यों ८१ में से प्रकृतियां घट जानेसे ७६ प्रकृतियोंका उदय ७वें गुणस्थानमें होता है। ७वें गुणस्थानमें ४ प्रकृतियोंका उदयव्युच्छेद होता है—सम्यक् प्रकृति, अन्तके तीन संहनन। सो ७६ में से चार घटानेसे ८वें गुणस्थानमें ७२ प्रकृतियोंका उदय है। ८वें गुणस्थानमें उदयव्युच्छेद ६ प्रकृतियोंका है। वे हैं ६ नोकषाय हास्यादिक। उनके घटने से ६६ प्रकृतियोंका उदय ९वें गुणस्थानमें रहता है। ९वें गुणस्थानमें ६ प्रकृतियोंका उदय-व्युच्छेद है। नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया, ये ६ प्रकृतियां घट जाने से १०वें गुणस्थानमें ६० प्रकृतियोंका उदय रहा। १०वें गुणस्थानमें एक संज्वलन लोभका उदयव्युच्छेद है। उसके घटनेसे ११वें गुणस्थानमें ५९प्रकृतियोंका उदय रहा। ११वें गुणस्थानमें दो प्रकृतियोंका उदयव्युच्छेद है। वज्रवृषभनाराचसंहनन व नाराचसंहनन इनके घटनेसे १२वें गुणस्थानमें ५७ प्रकृतियोंका उदय रहा। १२वें गुणस्थानमें १६ प्रकृतियोंका उदयव्युच्छेद हैं। ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अंतराय, निद्रा और प्रचला। इन १६ के घटनेसे तथा तीर्थंकरप्रकृतिका उदय बढ़ जानेसे १३वें गुणस्थानमें ४२ प्रकृतियोंका उदय है। १३वें गुणस्थानमें ३० प्रकृतियोंका उदयव्युच्छेद है। वे ३० हैं—वेदनीयकी एक, पहला संहनन, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्त, अप्रशस्त विहायोगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, तैजस शरीर, तैजस अंगोपांग, संस्थान ६, वर्णादिक ४, अगुरुलघुत्व आदिक ४ और प्रत्येक। इन ३० के घटनेसे १४वें गुणस्थानमें १२ प्रकृतियोंका उदय रहा। यहां यह बात जाहिर होती है कि १३वें गुणस्थानमें शरीरादिककी की उदयव्युच्छित्ति हुई, तो इसके मायने हैं कि १४वें गुणस्थानमें इसका उदय न होनेसे शरीर ही न कुछकी तरह है। अन्तमें शेष १२ प्रकृतियोंका भी उदय खत्म होनेसे ये सिद्ध भगवान बन जाते हैं। यहां तक प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंधका वर्णन किया। अब

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अन्तिम प्रदेशबंध कहा जा रहा है। उसमें सर्वप्रथम इतने प्रश्न आयेंगे कि प्रदेशबंध किस कारणसे होता है, कब होता है, कैसे होता है, किस प्रभाव वाला है, कहां होता है और कितने परिमाणमें होता है ? इन सब प्रश्नोंका उत्तर देने वाले सूत्रको कहते हैं—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥८-२४॥

(३२०) **प्रदेशबन्धका निर्देश और प्रदेशबन्धनिर्देशकप्रकृत सूत्रमें 'नामप्रत्ययाः' पद की सार्थकता**—नामके कारण समस्त भावोंमें योगविशेषसे सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाहमें स्थित समस्त आत्मप्रदेशोंमें अनन्तानन्त प्रदेश हैं। इस अर्थसे यह ध्वनित होता कि जीवके साथ अनन्तानन्त कार्माणवर्गणायें कर्मरूप होकर स्थित रहती हैं। सर्वप्रथम शब्द आया है—नामप्रत्यय। इसका अर्थ है कि सर्व कर्म प्रकृतियोंके कारणभूत अर्थात् परमाणुवोंका बंध होगा, उन्हींमें तो वे प्रकृतियां आयेंगी जिनका पहले वर्णन किया, जो यह प्रदेशबंध हुआ, वहां ही प्रकृति होगी, स्थिति होगी, अनुभाग होगा। तो उन सब बन्धोंका आधार उपादान तो ये कार्माणवर्गणायें हैं, यह बात प्रथम पदमें भाषित की है। यहां शंकाकार कहता है कि नाम प्रत्ययका यह अर्थ किया जाय तो सीधा अर्थ है कि जिन प्रकृतियोंका नामकरण है। उत्तर—ऐसा अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि इस अर्थके किए जानेमें केवल नामकर्मका ही ग्रहण होगा और यह आगमविरुद्ध रहेगा। इस पदमें तो हेतुभावका ग्रहण किया गया है अर्थात् जैसे कि पहले सूत्र कहा गया था—'सत्यथानाम' जैसा कि कर्मोंका नाम दिया गया है उनकी तरहकी प्रकृति स्थिति आदिक बनती है, उनके आधारभूत ये कर्मपरमाणु हैं।

(३२१) **सूत्रोक्त सर्वतः पदकी सार्थकता**—दूसरा पद है सर्वतः, इसका अर्थ है कि सभी भवोंमें यह बंध होता रहा, इसमें कालका ग्रहण बताया गया है। एक-एक जीवके अनन्त भव गुजर चुके है और आगामी कालमें किसीके संख्यात, किसीके असंख्यात और किसीके अनन्त भव गुजरेंगे, उन सभी भवोंमें यह प्रदेशबंध होता रहा है। ऐसा नहीं है कि जीव पहले शुद्ध हो, पश्चात् कर्म परमाणुवोंका बंधन हुआ। यदि जीव शुद्ध होता तो कर्म परमाणुवोंका बंधन हो ही न सकता था, क्योंकि कर्मपरमाणुवोंके बंधनका कारण तो जीवके अशुद्ध भाव है। और मान लिया गया जीवको पहलेसे शुद्ध तो कर्मबन्धन कैसे हो सकता ? क्योंकि जब कर्मबंध पहलेसे होता तब उनके उदयमें अशुद्धभाव बनता। सो अब अशुद्धभाव तो हो नहीं सक रहा, फिर कर्मबंध कैसे होता ? इस कारण जो तथ्य है वह कहा जा रहा है कि इस जीवके सभी भवोंमें कर्मबंध हुआ है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मसम्बन्ध अनादि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कालसे है ।

(३२२) **सूत्रोक्त 'योगविशेषात्' पदकी सार्थकता**—सूत्रमें तीसरा पद है योगविशेषात् अर्थात् मन, वचन, कायके योगसे कर्मका आस्रव होता है योगके कारण। आत्माके प्रदेशोंमें परिस्पंद होनेसे आत्मस्वरूपके क्षेत्रमें रहने वाली कार्माणवर्गणायें, विश्रसोपचय वाली वर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं, तो उनका कारण योगविशेष है। जहाँ योग नहीं रहता वहाँ कर्मका आस्रव नहीं होता, बंधकी बात तो अलग रही। यद्यपि आस्रव और बंध एक साथ होते हैं किन्तु कोई जीव ऐसे होते हैं कि जिनके ईर्यापथास्रव होता है याने कर्म आये और गए, उनमें एक क्षणकी भी स्थिति नहीं बँधती। वहाँ बंध तो नहीं कहलाया, आस्रव कहलाया फिर भी जो सकषाय जीवकी गतियाँ हैं उनमें बंध है। सो जिस समय कर्म आये वह समय भी स्थितिमें शामिल हो गया, आगे भी रहेगा। तो यों आस्रव और बंध एक साथ हो गए। योगविशेषसे आस्रव होता है, यही बंधका ग्रहण कराता है।

(३२३) **"सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता" इस सूत्रोक्त पदकी सार्थकता**—चौथे पदमें कई बातोंका वर्णन है। पहली बात कही गई है कि वे कर्मपरमाणु सूक्ष्म हैं। हैं वे पुद्गल, किन्तु शरीरस्कंधकी भाँति स्थूल नहीं हैं। और ऐसी सूक्ष्म कार्माणवर्गणायें हैं तब ही वे जीवके द्वारा ग्रहण करने योग्य बन पाती हैं। जीव द्वारा ग्रहण योग्य पुद्गल सूक्ष्म हो सकता है, स्थूल नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कही गई है कि ये कर्मपुद्गल एक क्षेत्रावगाहमें स्थित हैं अर्थात् जहाँ आत्मप्रदेश है उस ही क्षेत्रमें अवगाहरूपसे वे कर्म पुद्गल स्थित हैं। ऐसा नहीं है कि आत्माके निकट आत्मासे चिपके हुए कर्मपुद्गल हों, किन्तु जितने विस्तारमें आत्मा है उतने ही विस्तारमें उन्हीं जगहोंमें ये कार्माण वर्गणायें पड़ी हुई हैं। यहां आत्मप्रदेशोंका और कर्म पुद्गलका एक अधिकरण बताया गया है, याने व्यवहारनयसे जहाँ आत्मप्रदेश हैं उन्हींके ही साथ वहाँ ही ये कार्माण वर्गणायें हैं, अन्य क्षेत्रमें नहीं हैं। तीसरी बात इस पदमें स्थित शब्द देनेसे यह ध्वनित हुई कि वे ठहरे हुए कर्मपुद्गल हैं जो बंधमें आये हैं वे जाने वाले नहीं हैं, डोलने वाले नहीं हैं, अन्य क्रियायें उनमें नहीं हैं, केवल स्थिति क्रिया हैं। इस प्रकार चौथे पदमें बताया गया कि वे कर्म वर्गणायें सूक्ष्म हैं, आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें हैं और स्थित हैं।

(३२४) **सूत्रोक्त पञ्चम और षष्ठपद सम्बंधित तथ्योंपर प्रकाश**—पांचवें पदमें कहा गया है कि वे कर्मवर्गणायें सर्व आत्मप्रदेशोंमें हैं। आत्माके एक प्रदेशमें या कुछ प्रदेशोंमें कर्मबंध नहीं है, किन्तु ऊपर नीचे अगल बगल सर्व आत्मप्रदेशोंमें व्याप करके ये कर्मवर्गणायें स्थित हैं। छठे पदमें बताया है कि यह अनन्तानन्त प्रदेशी है। यहां प्रदेश शब्दका अर्थ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

परमाणु है, लेकिन जो कर्मवर्गणायें कर्मबन्ध रूपमें होती हैं वे एक दो करोड़ अरब असंख्यात नहीं किन्तु अनन्तानन्त परमाणु एक समयमें बंधको प्राप्त होते हैं। ये बँधने वाले कर्मस्कंध न तो संख्यात परमाणुवोंका है और न असंख्यात परमाणुवोंका है और अनन्तका भी नहीं किन्तु अनन्तानन्त परमाणुवोंका है। कर्मपरमाणु अभव्य राशिसे अनन्त गुणे हैं, सिद्धराशिके अनन्तभाग प्रमाण हैं। घनांगुलके असंख्येय भाग क्षेत्रोंमें अवगाही हैं। उनकी स्थितियां अनेक प्रकारकी हैं। कोई एक समय कोई दो समय आदिक बढ़ बढ़कर कोई संख्यात समय कोई असंख्यात समयकी स्थिति वाले हैं। इनकी स्थितियोंका वर्णन पहले किया जा चुका है। इन कर्मवर्गणावोंमें ५ वर्ण ५ रस, २ गंध, ४ स्पर्श अवस्थायें हैं। ये कर्मवर्गणामें ८ प्रकार की कर्मप्रकृतियोंके योग्य हैं अर्थात् इनमें ८ प्रकारकी प्रकृतियाँ बन जाती हैं। इनका बंध मन, वचन, कायके योगसे होता है। होता तो आत्माके प्रदेश परिस्पंदसे पर वह प्रदेशपरिस्पंद मन, वचन, कायके वर्गणाओंका आलम्बन लेकर होता है उनकी बात बतानेके लिए तीन योगकी बात कही गई है। कर्मबन्धके मायने क्या है? आत्माके द्वारा वह स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार प्रदेश बन्धका वर्णन किया और इसीके साथ बंध पदार्थका भी वर्णन हो चुकता है। अब उन बँधी हुई प्रकृतियोंमें पुण्य प्रकृति कौन सी है, पाप प्रकृतियोंमें पुण्य प्रकृति कौन सी है, पाप प्रकृतिया कौन सी हैं, यह बात बताते हैं। और चूँकि पुण्य प्रकृति और पाप प्रकृति दोनोंका अंतर्भाव बंधमें हो जाता है, इसलिए ७ तत्त्वोंमें इनका वर्णन नहीं किया गया तो भी चूंकि बंधमें ही ये शामिल हैं तो उन पुण्य और पापप्रकृतियोंका अलग अलग नाम बतलानेके लिए सूत्र कहेंगे। उनमें सबसे पहले पुण्यप्रकृतियोंकी गणना वाला सूत्र कहते हैं।

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥८-२५॥

(३२५) **पुण्यप्रकृतियोंके नामका निर्देश**—सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नामकर्म, शुभगोत्र कर्म ये पुण्य प्रकृतियाँ कहलाती हैं। शुभका अर्थ है, जिनका फल संसारमें अच्छा माना जाता है। शुभ आयु तीन प्रकारकी है–(१) तिर्यंचायु (२) मनुष्यायु और (३) देवायु। यहां कुछ संदेह हो सकता है कि मनुष्य और देव इन दो आयुको शुभ कहना तो ठीक था, पर तिर्यंचायुको शुभ क्यों कहा गया? साथ ही गतियोंमें तिर्यंचगतिको अशुभ कहा गया है। तो जब गति अशुभ है तो यह आयु भी अशुभ होना चाहिए। पर यह संदेह इसलिए न करना कि आयुका कार्य दूसरा है, गतिका कार्य दूसरा है। आयुका कार्य है उस शरीरमें जीवको रोके रखना, और गतिका कार्य है कि उस भवके अनुरूप परिणामोंका होना। तो कोई भी तिर्यंच पशु, पक्षी, कीड़ा मकोड़ा यह नहीं चाहता कि मेरा मरण हो जाय। मरण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होता हो तो बचनेका भरसक उद्यम करते हैं । इससे सिद्ध है कि तिर्यंचको आयु इष्ट है, किंतु तिर्यंच भवमें दुःख विशेष है और वे दुःख सहे नहीं जाते उन्हें दुःख इष्ट नहीं हैं इस कारण तिर्यक् गति अशुभ प्रकृतिमें शामिल की गई है और तिर्यंचायु शुभ प्रकृतिमें शामिल की गई है । शुभ नामकर्ममें ३७ प्रकारकी कर्मप्रकृतियाँ हैं । मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पाँचों शरीर, तीनों अंगोपांग, पहला संस्थान, पहला संहनन, प्रशस्त वर्ण, प्रशस्त गंध, प्रशस्त रस, प्रशस्त स्पर्श, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु परघात । उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण, और तीर्थंकर नामकर्म । शुभगोत्र एक उच्चगोत्र ही है । सातावेदनीयका पूरा नाम अब सूत्रमें दिया हुआ ही है । इस प्रकार ये सब ४२ प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृति कहलाती हैं । अब पाप प्रकृतियां कौन सी हैं इसके लिए सूत्र कहते हैं ।

अतोऽन्यत पापम् ॥८—२६॥

(३२६) **पापप्रकृतियोंके नामोंका निर्देशन**—पुण्यप्रकृतियोंके सिवाय शेषकी सब प्रकृतियां पापप्रकृतियाँ कहलाती हैं । ये पाप प्रकृतियाँ ८२ हैं, ज्ञानावरणकी प्रकृतियाँ ५, दर्शनावरणकी प्रकृतियां ६, मोह नीयकर्मकी प्रकृतियाँ २६, अन्तराय कर्मकी प्रकृतियां ५, ये समस्त घातिया कर्म पाप प्रकृतियां कहलाती हैं । यहां मोहनीयकर्मकी २६ प्रकृतियां कही गई हैं । सो बंधकी अपेक्षा वर्णन होनेसे २६ कही गई हैं । मोहनीयकी कुल प्रकृतियां २८ होती हैं, जिनमें सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति उन दो प्रकृतियोंका बंध नहीं होता । किन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्वके प्रथम क्षणमें मिथ्यात्वके टुकड़े होकर ये दो प्रकृतियां बनकर सत्तामें आ जाती हैं । इन घातिया कर्मोंके अतिरिक्त अघातिया कर्मोंमें जो पापप्रकृतियां हैं उनके नाम ये हैं । नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, अन्तके ५ संस्थान, अंतके ५ संहनन, अप्रशस्त वर्ण, अप्रशस्त गंध, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, अपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशकीर्ति ये ३४ नामकर्मकी प्रकृतियां पापप्रकृतियां हैं । नामकर्म प्रकृतियोंके अतिरिक्त असातावेदनीय, नरकायु, और नीचगोत्र ये भी पापप्रकृतियां हैं ।

(३२७) **प्रथमसे सप्तम गुणस्थान तकमें सत्त्वयोग्य प्रकृतियोंका निर्देशन**—सब प्रकृतियोंका बंध होकर ये सत्तामें स्थित हो जाते हैं, सिर्फ सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति अन्य विधियोंसे सत्त्वमें १४८ प्रकृतियां मानी गई हैं उनमें से पहले गुणस्थानमें १४८ प्रकृतियोंका सत्त्व रह सकता है । यह सब नाना जीवोंकी अपेक्षा कथन है । दूसरे गुणस्थानमें तीर्थंकर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकृति आहारक शरीर आहारक अंगोपांग इनका सत्त्व नहीं है। जिन जीवोंके इनका सत्त्व होता है वे दूसरे गुणस्थानमें आते ही नहीं हैं। इस प्रकार दूसरे गुणस्थानमें ३ कम होनेसे १४५ प्रकृतियोंका सत्त्व है। तीसरे गुणस्थानमें १४७ प्रकृतियोंका सत्त्व है। यहां तीर्थंकरका सत्त्व नहीं। चौथे गुणस्थानमें १४८ प्रकृतियां सत्त्वमें पायी जा सकती है। ५वें गुणस्थानमें १४७ की सत्ता हैं। एक नरकायुका सत्त्वविच्छेद चौथे गुणस्थानमें हो चुकता है। छठे गुणस्थानमें १४६ की सत्ता है। तिर्यंचायुका सत्त्वविच्छेद ५ वें गुणस्थानमें हो जाता है। ७ वें गुणस्थानमें स्वस्थान और सातिशय ऐसे दो भेद हैं, जिनमें स्वस्थानमें १४६ का सत्त्व हो सकता है परन्तु सातिशयमें यदि क्षपक श्रेणीपर जाने वाला जीव है तो उसके सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियोंका क्षय हो चुका है। इस कारण ये ७ प्रकृतियां एक देवायु, इनका सत्त्व न मिलेगा क्योंकि उसे मोक्ष जाना है। यदि वह उपशम श्रेणीपर चढ़ेगा तो उसके १४६ प्रकृतियोंका सत्त्व हो सकता है।

(३२८) **आठवेंसे चौदहवें गुणस्थान तकके सत्त्व वाली प्रकृतियोंका निर्देशन**—अब सप्तम गुणस्थानसे ऊपर दो श्रेणियां हो गई। (१) उपशम श्रेणी और (२) क्षपकश्रेणी। उपशम श्रेणीमें १४६ प्रकृतियोंका सत्त्व है, पर जो कोई जीव ऐसे हैं कि जिनके क्षायिक सम्यक्त्व तो है पर उपशम श्रेणी मारी है तो उसके १३९ प्रकृतियोंका सत्त्व रहेगा। क्षपक श्रेणीमें ८ वें गुणस्थान वाले जीवके १३८ प्रकृतियोंका सत्त्व है। इनके ३ तो आयु नहीं हैं और ७ सम्यक्त्व घातक प्रकृतियां नहीं हैं। ९ वें गुणस्थानके पहले भागमें १३८ प्रकृतियों का सत्त्व है। उस भागमें १६ प्रकृतियों क्षय हो जाता है। अतः ९ वें के दूसरे भागमें १२२ प्रकृतियोंका सत्त्व है। १६ प्रकृतियोंके नाम ये हैं—नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंगति, तिर्यंग्गत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, उद्योत आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म व स्थावर। इन १६ प्रकृतियोंका सत्त्वविच्छेद होने से नवमें गुणस्थानके दूसरे भागमें १२२ प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है। इस दूसरे भागमें १२२ प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है। इस दूसरे भागमें ८ प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है। अतः तीसरे भागमें ११४ प्रकृतियोंका सत्व रहता है। ये ८ प्रकृतियां अप्रत्याख्यानावरण ४ और प्रत्याख्यानावरण ४ हैं। इस तीसरे भागमें नपुंसकवेदका क्षय हो जानेसे चौथे भागमें ११३ प्रकृतियोंका सत्व है। यहां स्त्रीवेदका क्षय हो जानेसे ५ वें भागमें ११२ प्रकृतियोंका सत्व है। इस भागमें ६ नोकषायोंका क्षय हो जानेसे ९वें गुणस्थानके छठे भागमें १०६ प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है। इस भागमें पुरुषवेदका क्षय हो जानेसे ७ वें भागमें १०५ प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है। यहां संज्वलन क्रोधका क्षय हो जानेसे ८वें भागमें १०४ प्रकृतियोंका सत्त्व रहता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है । इस भागमें संज्वलन मानका क्षय होनेसे ६ वें भागमें १०३ प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है । ६ वें गुणस्थानके अन्तिम भागमें संज्वलन मायाका क्षय हो जानेसे १०वें गुणस्थानमें १०२ प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है । दसवें गुणस्थानमें संज्वलन लोभका क्षय हो जानेसे १२ वें गुणस्थानमें १०१ प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है । यहाँ १६ प्रकृतियोंका क्षय हो जानेसे १३ वें गुणस्थानमें ८५ प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है । ये १६ प्रकृतियाँ ये हैं—निद्रा, प्रचला, ज्ञानावरणकी ५, अन्तरायकी ५, दर्शनावरणकी ४ याने चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण व केवलदर्शनावरण । १४वें गुणस्थानमें भी ८५ प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है । यहाँ उपांत्य समयमें ७२ प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है वे ७२ प्रकृतियाँ ये हैं—शरीरनामकर्मसे स्पर्शनामकर्म पर्यन्त ५०, स्थिरद्विक, शुभद्विक, स्वरद्विक, देवद्विक, विहायोगतिद्विक, दुर्भग, निर्माण, अयशःकीर्ति, अनादेय, प्रत्येक अपर्याप्ति, अगुरुचतुष्क, अनुदित वेदनीय १, तथा नीच गोत्र । अयोगकेवलीके अंतिम समयमें १३ प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है । इनके क्षय होनेपर ये प्रभु सिद्ध हो जाते हैं । इस प्रकार बद्ध प्रकृतियोंकी सत्ताका कथन हुआ ।

(३२६) **बन्धपदार्थका परिचयोपाय बताकर समाप्तिकी अष्टम अध्यायकी सूचना—** यह बन्धपदार्थ अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी व केवलज्ञानी आत्माके द्वारा प्रत्यक्षगम्य है, वीतराग सर्वज्ञ आप्तद्वारा उपदिष्ट आगमद्वारा गम्य है व विपाकानुभव आदि साधनोंसे अनुमानगम्य है । इस प्रकार बन्धपदार्थका वर्णन इस अष्टम अध्यायमें समाप्त हुआ ।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन २१ वां भाग समाप्त ॥

Version 1